जानने की बातें

भाषा और साहित्य

जरा ठहरिए ! एक मिनट—

बस, हो गया । अच्छा बताइए तो भला, यह एक मिनट मैं क्या सोच रहा था ? लाख सर मारिए, बता नहीं सकते आप ।

मैं बता दूं तो आप भले बता सकें । मेरे बताए बगैर आप बता भी कैसे सकते हैं कि मैं क्या सोच रहा था ! जानने की इसी तरकीब का नाम भाषा है ।

आप तक मेरी निगाहें नहीं जाती । और जहां मैं हूं, वहां से गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने पर भी आपके कानों आवाज नहीं पहुंचती ।

ऐसे में उपाय ? उपाय इसका हमारे ही पास है । अपने मुंह की भाषा अगर किसी चीज से रखकर आप तक पहुंचा सकूं, तो कोई कठिनाई न रह जाए । भाषा को कहीं पहुंचा देने के इस उपाय का ही नाम लिखावट है ।

मगर जानने और जनाने के लिए ऐसा सर-दर्द :
आखिर ? हाथ-पांव समेटे चुप्प साधे बैठने मे ही क्या हर्ज है। अगर हाथ-पांव समेटे बैठा रहता, तो आदमी आदमी नहीं बन पाता। आज भी उसे पूंछ उठाए जंगलो मे ही भटकना पड़ता।

यह करामात तो हाथों की है कि मनुष्य जान सका है, जना सका है, उसने बात करना सीखा, नाचना-गाना सीखा, कविता लिखना सीखा। काम करने से ही ताल-लय और छंद आया।

इसके मानी यह हुए कि कला और साहित्य कुछ आसमान से नही टपक पड़ा। वह समाज से ही पैदा हुआ है। मगर इस का सबूत। इसके एक नहीं, अनेक सबूत इस पुस्तक में है।

कला और साहित्य पर समाज की छाप पड़ती है। क्या वैसी, जैसी कि पानी पर छाया पड़ा करती है ? नही ? कला और साहित्य समाज की वैसी निकम्मी छाया नही हैं।

भस्मलोचन की कहानी जानते है ? वह जिसे भी देख लेता था, वही जलकर राख हो जाता था। जिस दिन उस छाया में उसने अपने-आपको देख लिया, उसी दिन खुद भी जल गया।

जो समाज भस्मलोचन के समान ज्यादा लोगों को जलाया करता है, अपने में उसकी छाया रखकर कला और साहित्य उसे फूंकने का काम कर सकता है।

कला और साहित्य नए भविष्यत और नये जीवन को आगे बढ़ाने मे भी उतनी ही मदद कर सकता है।

इसका क्या प्रमाण है ? इसके अनेकों प्रमाण इस पुस्तक में हैं।

थोड़े में कहें, तो आदमी के हाथ से मनुष्य के भूत, भविष्यत् और वर्तमान की बात कही जा सकती है।

उन हाथों में है क्या ? हाथों में बात है, काम है। और मुट्ठी मे ? मुट्ठी मे बंद पड़ी है दुनिया।

भाषा

पहाड़ क्या होता है, यह समझाने के लिए अगर पहाड़ को ही सामने हाजिर करना पड़ता, तो किस मुसीबत मे पड़ते आप ? मान भी ले कि आप बड़े ही बहादुर है, फिर भी अजीब मुसीबत थी कि आपकी पूछ देखने के लिए एक खासी भीड़ जमा हो जाती ! क्योंकि गंध-मादन पहाड़ को कौन उठा लाया था ? हनुमान ही तो ?

समझना और समझाना

इससे आसानी से तो पत्थर का एक टुकड़ा यह काम कर सकता। अगर हम यह मान लें कि पत्थर के टुकड़े को सामने रख देने पर पहाड़ समझा जाए, तो फिर पहाड़ को हिलाने की जरूरत नही पड़ती। इसी तरह नदी के लिए धागा, पेड़ समझाने के लिए किसी तिनके से काम चल सकता था।

ऐसा भी हो जाए कि भारी के लिए हल्की, बड़ी के लिए छोटी चीज से समझाने का काम लिया जा सके, तो भी सब समय पहाड़ साथ लादकर चलना पड़े। यह तो नही कहा जा सकता कि कब कौन-सी बात समझाने की आवश्यकता आ पड़े। सो किसी भी चीज को छोड़ा तो नही जा सकता।

समझ लीजिए आप रास्ते से गुजर रहे हैं। किसीसे हो गई भेंट। उसे रोककर आप किसी गाछ की बात समझाना

चाहते हैं। ऐसे में झोली में से तिनका निकालना पड़ जाएगा। आप उसे रोकेंगे फिर झोली में हाथ डालकर तिनका ढूंढने लग जाएंगे। पत्थर का टुकड़ा मिल रहा है, धागा हाथ से लग रहा है, पर चीज़ों की उस भीड़ में कम्बख्त तिनका किसी तरह नहीं मिल रहा। सुबह से सांझ तक की परेशानी के बाद जब वह मिला तो आप देखते हैं कि ऊबकर वह आदमी ही कब का जा चुका है, जिसे समझाने के लिए आपको इतनी झंझट झेलनी पड़ी।

जो सदा साथ हो

सो समझाने के लिए इतना बड़ा बोझ ढोते पार नहीं लग सकता। कुछ ऐसा हो तो सहूलियत रहे कि जो सदा साथ रहे, उसे ढोये चलने का हंगामा न हो, खोने की भी फ़िक्र न हो। मगर ऐसी चीज़ हो क्या सकती है? हमारे हाथ-पैर, आंख-मुंह थोड़े में कहें तो हमारा शरीर है। संसार का कितना ही बड़ा भुलक्कड़ क्यों न हो, उसके लिए भी यह संभव नहीं कि कहीं अपना हाथ या अपनी कोई टांग भूल आए। आप चाहे जहां जाएं, शरीर साथ जाता है।

इससे यह पता चलता है कि बताने की सबसे अच्छी तरकीब हमारा शरीर ही लगा सकता है। हथेली पर केहुनी रखकर हम आपको बगला दिखा सकते हैं। अंगूठा दिखा दे सकते हैं। गर्दन हिलाकर 'हां' या 'ना' बता सकते हैं। गर्ज़ कि बदन के इशारे से बहुत कुछ बता सकते हैं। पहाड़ भी पत्थर के बजाय मुट्ठी से बता सकते हैं।

लेकिन थोड़ी देर के लिए यह सोचिए आप हैं बगल के कमरे में। हमें आपकी ज़रूरत है। अगर हाथों के इशारे से

बुलाए तो आपको पता ही नही चलेगा। मगर तालियां पीट दें, तो आप वहां से भी सुन सकते हैं। मतलब यह निकला कि इशारे से आवाज करने में कहीं ज्यादा सहूलियत है।

हाथ से नहीं, मुंह से

जानने की चीजें इतनी है कि उनका अंत नही। उन्हें जनाने के लिए आवाज भी उतनी ही तरह की चाहिए। तालियों से आप आखिर कितनी तरह की आवाज निकाल सकते हैं ? कोशिश कर देखिए तो ? ज्यादा आवाज जरूर नही निकाल सकेंगे। फिर कही आप चाय पी रहे हो। ऐसे मे मुझसे आप पूछना चाहें कि चाय पिएगे आप ? ताली बजाकर यह पूछना पड़े तो क्या हालत हो रहेगी ?

- फिर ? फिर तो यह मतलब हुआ कि कुछ बताने का उपाय हकीकत में आदमी के हाथों नही, मुंह में है।

फेफड़े की धौंकनी से जो हवा आती है, उसे गले, जीभ, तालु, दांत, होंठो से लगाकर, मुंह में इधर-उधर चलाकर जी चाहे जितनी तरह की आवाज आदमी निकाल सकता है। हाथ बंधे भी हों तो मुंह से आवाज निकालने में बाधा नही पड़ती।

तो इशारे के बजाय आवाज से कुछ बताना सभी लिहाज से ज्यादा सुभीते का है। आवाज से कुछ बताने का नाम ही भाषा है।

टप्-टाप् की आवाज से घर बैठे ही हम जान लेते है कि बाहर बारिश हो रही है। मगर यह टप्टाप् क्या बारिश की भाषा है ? नहीं। ढप् की आवाज होते ही ताल का बोध होता है। यह 'ढप्' क्या ताल भाषा हुई ? दरअसल आवाज भाषा नही होती, कुछ बताने की गर्ज से की गई आवाज भाषा

कहलाती है । आवाज होना और आवाज करना, दोनों में फर्क है ।

पशु-पक्षी भी तो आवाज से बताया करते है । अपने बछड़े को न देख पाये, तो गैया रँभाती है । कौएं कांव-कांव करके अपने सगी-साथियो को जमा करते हैं । इस पर से क्या कहा जाए कि पशु-पक्षियों के भी भाषा है ?

भाव और भाषा

नहीं । पशु-पक्षियों की पुकार होती है, भाषा नहीं । उनकी आवाज अस्फुट होती है—टूटी-टूटी । जैसे, कांव-कांव, भों-भों, हुंबा, भें-भें । जैसे, चोट पहुचने से हम ऊ कर उठते हैं, अच्छा लगने पर 'वाह' और लाज लगने से 'धत्' कहा करते है । -

मनुष्य अगर 'ऊः-आः, वाह-उफ्, छिः-धत्' के सिवाय और कुछ बोल ही नही पाता तो हम यह हर्गिज नही कह सकते कि मनुष्य की भाषा है । तरह-तरह की आवाज को पिरोकर भाव को साफ-साफ जाहिर कर देना ही भाषा का काम है ।

आपके यहां कोई मेहमान पहुंच जाएं, तो आपका कुत्ता तो यह नही पूछ सकता कि आप किसे ढूंढ रहे हैं ? लेकिन आपके घर कोई तोता हो, तो वह आदमी की तरह साफ पूछ सकता है—आप किसे ढूढ़ रहे है ? सिखाया जाएं, तो तोता और भी बहुत कुछ बोल सकता है । तो क्या तोते के भाषा होती है ?

नहीं । तोता आदमी की भाषा की हूबहू नकल कर सकता है । नकल की हुई वह बोली भाषा नही हो सकती । उसे हर बात का मतलब मालूम नही होता । इसीलिए वह खुद बोल नहीं सकता, रटी हुई बोली दोहराता है ।

इस बात से यह जाहिर होता है कि बोलने का यंत्र भी हो तो बोला नहीं जा सकता। उस यंत्र को काम में लाना आये तो भाषा आती है।

बात और काम

काम करने की जुर्रत केवल आदमी में ही है। बाहरी दुनिया को केवल वही अपनी मुट्ठी में कर सकता है। ऐसा कर सकने के लिए दिमाग और हाथ का मेल होना जरूरी है। लेकिन कुदरत से अकेले पार पाना कठिन है, इसीलिए मनुष्य दल बांधकर उससे लड़ता है। इस तरह दल बांधकर कुदरत से लड़ने का नाम ही काम करना है।

मिल-जुलकर काम करने लिए मनुष्य से मनुष्य का जो आपसी सबंध बनता है, वही कहलाता है समाज। उसके लिए आपस में समझौता होना चाहिए, एक दूसरे को जानना समझना चाहिए। इसके बिना कोई काम नहीं बन सकता। यह हम देख चुके हैं कि औरों को जानना और अपने को औरों को जताना, यह काम मुंह से बोलकर ही सबसे अच्छी तरह से हो सकता है। भाषा की जरूरत ही इसलिए हुई कि समाज के काम आए। समाज नहीं होती तो भाषा भी नहीं होती। और अगर यह भाषा नहीं होती तो समाज बनाना मुश्किल था। काम के साथ ही है बात, बात के साथ ही है काम। एक दूसरे को अलग नहीं किया जा सकता। बात के बिना काम कहीं नहीं बनता और किसी काम न आये तो बात महज एक निरर्थक आवाज होती है।

भाषा के माल-मसाले

घर बनाना होता है, तो बहुत से सरो-सामान की जरूरत पड़ती है। भाषा को भी वैसे माल-मसाले की आवश्यकता है।

कहलाती है । आवाज होना और आवाज करना, दोनों में फर्क है ।

पशु-पक्षी भी तो आवाज से बताया करते हैं । अपने बछड़े को न देख पायें, तो गैया रँभाती है । कौएं कांव-कांव करके अपने संगी-साथियों को जमा करते हैं । इस पर से क्या कहा जाए कि पशु-पक्षियों के भी भाषा है ?

भाव और भाषा

नहीं । पशु-पक्षियों की पुकार होती है, भाषा नहीं । उनकी आवाज अस्फुट होती है—टूटी-टूटी । जैसे, कांव-कांव, भौं-भौं, हुंवा, में-में । जैसे, चोट पहुचने से हम ऊः कर उठते हैं, अच्छा लगने पर 'वाह' और लाज लगने से 'धत्' कहा करते हैं ।

मनुष्य अगर 'ऊः-आः, वाह-उफ्, छिः-धत्' के सिवाय और कुछ बोल ही नहीं पाता तो हम यह हर्गिज नहीं कह सकते कि मनुष्य की भाषा है । तरह-तरह की आवाज को पिरोकर भाव को साफ-साफ जाहिर कर देना ही भाषा का काम है ।

आपके यहां कोई मेहमान पहुंच जाएं, तो आपका कुत्ता तो यह नहीं पूछ सकता कि आप किसे ढूंढ रहे हैं ? लेकिन आपके घर कोई तोता हो, तो वह आदमी की तरह साफ पूछ सकता है—आप किसे ढूढ रहे है ? सिखाया जाएं, तो तोता बहुत कुछ बोल सकता है । तो क्या तोते के भाषा

नहीं । तोता आदमी की भाषा की हूबहू
है । नकल की हुई वह बोली भाषा नहीं हो
बात का मतलब मालूम नहीं होता । इसी
सकता, रटी हुई बोली दोहराता है ।

जान

जैसे मिट्टी, पत्थर, गाछ की टूटी हुई डाल। कुछ चीजें कड़ी होती हैं, जैसे पत्थर; कुछ नर्म होती है, जैसे कीचड, माटी।

सारी प्रकृति को एक रूप देखना नही, उसकी अलग-अलग चीजों की ठोंक-बजाकर देखना, उसके हाव-भाव को गौर करना है। मान लीजिए, हम एक जगल मे बैठे। अदर जाते ही भक रह गए। देखा, मिट्टी को फोडकर बाहर क्या सब तो कतार बांधे खड़े है। जो चीज़ देखने मे इसी जैसी है, दूसरे जीवों से उसे अलग करते हुए उनका नाम रक्खा गाछ। गाछों पर भी गौर किया। 'देखा, यह गाछ एक से नही है। जो-जो एक से हैं उन्हे औरों से अलग वर्ग में रखकर सबका नाम रक्खा—सखुआ, ताड़, आम, बरगद, पीपल।

शब्दों से पहचान

चुनना और सजाना, चीन्हने और जानने की यही तरकीब है। चुन-चुनकर पेड़ों को ही देखा जाए, तो जगल को नही देखा जा सकता। अलग-अलग पेड़ों को एक जगह मिलाने से जंगल के दर्शन होते है।

लेकिन चीन्हने और जानने का मतलब ही होता है दूसरों से उसे अलग करना। जिसे हम जान गए, वह और-और की जमात में मिल न जाए, इसके लिए उस पर अलग लेबिल लगाना जरूरी है। मगर यह लेबिल धारणा पर तो नही लगाया जा सकता। इसीलिए नाम के लेबिल से मजे में काम चलाया जा सकता है। यह नाम ही चीज या भाव का चिह्न होता है। मतलब यह निकला कि चीन्हने के लिए नाम देना है। नाम ही पहचान कराता है। नाम को ही शब्द कहते शब्दों की बदौलत ही हम दुनिया को चीन्हते हैं। बिना [illegible]ना ही नही जा सकता।

^१ह्रस्व

भाषा का यह माल-मसाला है शब्द या बात। बगैर शब्द के भाषा नहीं हो सकती। तरह-तरह की आवाज से बनता है एक-एक शब्द। प अ ह आ ड़ —इतनी अलग-अलग ध्वनियों को गूंथकर एक शब्द बना है—पहाड़।

अब यह साफ समझ में आता है कि पहाड़ बताने के लिए महज यह शब्द ही काफी है। वस्तु हो चाहे भाव हो, जो भी बताना-समझाना हो, शब्द से ही वह समझाया जा सकता है। शब्द से कुछ बताने में समय भी कम लगता है। धीरे भी बात करिए तो सेकेंड में ज्यादा नहीं भी तो चौदह आवाज की जा सकती है।

तरह-तरह की आवाज से ही क्या शब्द बन जाता है? मान लीजिए, मैंने कहा—मारा आ शेविपता। आपने समझा कुछ? खाक नहीं समझा। लेकिन उन आवाजों को सजा-गुजाकर कहें—'आराम' 'विशेषता' तो वे सही मानी में शब्द बन गए। शब्द बन गए क्योंकि उनका अर्थ है। अर्थ रहने पर ही शब्द होता है।

किसी एक भाषा में जो शब्द होता है, वह दूसरी भाषा में शब्द नहीं भी हो सकता है। जैसे, अंग्रेजी का एक शब्द है 'करेज'। हिंदी का यह कोई शब्द ही नहीं। ऐसा भी शब्द हैं जो हिंदी अंग्रेजी दोनों में हैं, पर अर्थ दोनों का जुदा। जैसे टेम। टेम हिंदी में दीये के होती है और अंग्रेजी में उसके मानी है पालना।

जानने की तरकीब

कुछ कह देना, बाहरी दुनिया से परिचय करा देना ही शब्द का काम है। शुरू-शुरू में मनुष्य के आगे प्रकृति का रंग ढंग अजाना था। उसे वश में लाने की कोशिश करते-करते उसने बहुत कुछ जाना, सीखा। प्रकृति की बहुत-सी चीजें हिलती हैं। जैसे पशु, पंछी, मनुष्य। कुछ चीजें हैं जो नहीं हि...।

जैसे मिट्टी, पत्थर, गाछ की टूटी हुई डाल। कुछ चीजें कड़ी होती हैं, जैसे पत्थर, कुछ नर्म होती हैं, जैसे कीचड़, माटी।

सारी प्रकृति को एक रूप देखना नहीं, उनकी अलग-अलग चीजों को ठोक-बजाकर देखना, उनके हाव-भाव को गौर करना है। मान लीजिए, हम एक जंगल में बैठे। अन्दर जाते ही भक रह गए। देखा, मिट्टी को फोड़कर बाहर क्या सब तो कतार बांधे खड़े हैं। जो चीज देखने में इसी जैसी है, दूसरे जीवों से उसे अलग करते हुए उनका नाम रखा गाछ। गाछों पर भी गौर किया। देखा, यह गाछ एक से नहीं हैं। जो-जो एक से हैं उन्हें औरों से अलग वर्ग में रखकर सबका नाम रखा—सखुआ, ताड़, आम, बरगद, पीपल।

शब्दों से पहचान

चुनना और सजाना, चीन्हने और जानने की यही तरकीब है। चुन-चुनकर पेड़ों को ही देखा जाए, तो जंगल को नहीं देखा जा सकता। अलग-अलग पेड़ों को एक जगह मिलाने से जंगल के दर्शन होते हैं।

लेकिन चीन्हने और जानने का मतलब ही होता है दूसरों से उसे अलग करना। जिसे हम जान गए, वह और-और की जमात में मिल न जाए, इसके लिए उस पर अलग लेबिल लगाना जरूरी है। मगर यह लेबिल धारणा पर तो नहीं लगाया जा सकता। इसीलिए नाम के लेबिल से मजे में काम

शब्द की दिग्विजय

केवल वस्तु ही क्यों, वस्तु के रंग-ढंग चीन्हने के लिए भी नाम की जरूरत है। आदमी दौड़ता है, कुत्ता दौड़ता है, घोड़ा दौडता है—दौड़ने के भाव को आदमी, कुत्ता और घोड़ा से अलग करते हुए एक नाम दिया 'दौड़ना'।

वस्तु के साथ-साथ उनके गुण को भी जानना जरूरी है। कौन-सी वस्तु, कितनी वस्तु, पुरुष या स्त्री, किस हालत मे है—ये बाते शब्द से ही बनाई जा सकती हैं।

संसार मे वस्तु अनगिनती है, उनके भाव भी उसी तरह अनगिनती हैं। हर कुछ के लिए अगर अलग-अलग शब्द बनाए जाते, तो शब्दों का भी अंत नही मिलता। जैसे, लाल कुत्ता, काला कुत्ता, छोटा कुत्ता, बड़ा कुत्ता, बैठा हुआ कुत्ता, सोया हुआ कुत्ता—इन सबके लिए अगर अलग-अलग शब्द की जरूरत होती तो किस मुसीबत मे पडते आप ? लाल हो या काला, छोटा या बड़ा, सोया हो या बैठा। कुत्ता ही तो है आखिर। इसलिए कुत्ते के साथ लाल-काला, छोटा-बड़ा, सोया-बैठा लगाकर बहुत तरह के भाव बताए जा सकते हैं। इस तरह थोडे ही शब्दों से अनेक प्रकार के भाव बनाये जा सकते हैं और सारे संसार को कुछ ही हजार शब्दों मे मजे में बांध लिया जा सकता है।

शब्द की जड़ में

सभी भाषाओं में शब्दों की बंधी-बंधी एक संख्या होती है। इसी कारण भाषा सीख सकना सभव हुआ है।

ये शब्द आखिर आए कहां से ? एकबारगी शुरू में शायद लोगों ने पशु-पक्षी की बोलियों की नकल की थी। चूंकि कौआ कांव-कांव करता है, इसलिए उसी की नकल पर उसका नाम

काक पड़ा, झीं-झीं की आवाज से ही शायद झींगुर शब्द बना। जैसे छोटे बच्चे बिल्ली को 'म्याऊं, कुत्ते को 'भों-भों' और गीदड़ को 'हुआ हुक्का' नाम दे बैठते है।

लेकिन ऐसी नकल पर बने शब्द भाषा में बहुत थोड़े ही हैं। ज्यादातर शब्द लोगो ने जरूरत के मुताबिक गढ़ लिये है। उन शब्दो को जब समाज ने कबूल कर लिया, तभी उन्हें भाषा में स्थान मिला।

कुछ शब्द हैं, जो भाषा की बुनियाद है। इन्ही शब्दों के सहारे नए-नए शब्द बनाए जाते है। इन्हे शब्दो को मूल धातु कहते है। प्रत्येक मूल धातु किसी-न-किसी क्रिया का बोधक होता है। इन मूल धातुओ की परख करने से पता चलता है कि किस तरह काम से बात आई है।

काम से बात

मूल धातुओ से जिन कामो का बोध होता है, उनमे से हर काम समाज के उत्पादन के काम हैं। उन कामों से नई-नई धारणाओ की सृष्टि हुई है। अनेक शब्दो में उनकी छापपा ई जाती है।

जैसे, वेत्र। इसके पीछे संस्कृत का एक मूल धातु है—वे। वे का मतलब है बुनना। आदिम युग मे पेड़ो की डाल से गूंथकर घर का घेरा और छप्पर बनाया जाता था। बाद में मनुष्य ने इस ओर तरक्की की। वह सूत कातने लगा, कपड़े बुनने लगा, सिलाई करने लगा, ऊन का कुर्ता बुनने लगा। एक से दूसरे अनेक काम निकल आए।

'मर्' का मतलब होता है पीस डालना, घिसना, बुकनी बनाना। इससे बहुत से नए-नए शब्द बने—मृत्यु, मृत, मर्त्य, [illegible] —ए तो शब्दों का मेल [illegible]

शब्द की दिग्विजय

केवल वस्तु ही क्यों, वस्तु के रंग-ढंग चीन्हने के लिए भी नाम की जरूरत है। आदमी दौड़ता है, कुत्ता दौड़ता है, घोड़ा दौड़ता है—दौड़ने के भाव को आदमी, कुत्ता और घोड़ा से अलग करते हुए एक नाम दिया 'दौड़ना'।

वस्तु के साथ-साथ उनके गुण को भी जानना जरूरी है। कौन-सी वस्तु, कितनी वस्तु, पुरुष या स्त्री, किस हालत में है—ये बातें शब्द से ही बताई जा सकती हैं।

संसार में वस्तु अनगिनती हैं, उनके भाव भी उसी तरह अनगिनती हैं। हर कुछ के लिए अगर अलग-अलग शब्द बनाए जाते, तो शब्दों का भी अंत नहीं मिलता। जैसे, लाल कुत्ता, काला कुत्ता, छोटा कुत्ता, बड़ा कुत्ता, बैठा हुआ कुत्ता, सोया हुआ कुत्ता—इन सबके लिए अगर अलग-अलग शब्द की जरूरत होती तो किस मुसीबत में पड़ते आप ? लाल हो या काला, छोटा या बड़ा, सोया हो या बैठा। कुत्ता ही तो है आखिर। इसलिए कुत्ते के साथ लाल-काला, छोटा-बड़ा, सोया-बैठा लगाकर बहुत तरह के भाव बताए जा सकते हैं। इस तरह थोड़े ही शब्दों से अनेक प्रकार के भाव बनाये जा सकते हैं और सारे संसार को कुछ ही हजार शब्दों में मजे से बांध लिया जा सकता है।

शब्द की जड़ में

सभी भाषाओं में शब्दों की घटी-बढ़ी एक सहज होती है। इसी कारण भाषा सीख सकना संभव हुआ है।

ये शब्द आखिर आए कहाँ से ? एकबारगी शुरू में शायद लोगों ने पशु-पक्षी की बोलियों की नकल की थी। जैसे कौआ कांव-कांव करता है, इसलिए उसी की नकल पर उसका नाम

से लिये गए हैं। परन्तु, पक्षियों की बोली या चीज़ों के रूप और आवाज़ पर भी कुछ शब्द लिये है। ये भी देशज कहलाते है। जैसे, झरझर, खड़खड़ाना, धूमधाम, पेट, पगडी, धड़ाम, चोरन्ना।

विदेशी शब्द

इस के सिवाय हिन्दी मे बहुत से विदेशी शब्द भी आ मिले है। मुसलमानो के साथ इस देश मे अरबी, तुर्की और फारसी के बहुत से शब्द आए। पुर्तगाली और अग्रेजो के साथ भी उनके अनेक शब्द आए। अड़ोस-पड़ोस के प्रदेशो के शब्द हिन्दी मे मिलकर अपने-से हो गए है। जैसे,

अरबी के—अक्ल, इम्तहान, औरत, इन्साफ, ऐब, खबर दावत, सलाह।

तुर्की से—काबू, कुली, तोप, लाश, कैंची, कोतल ।

फारसी से—आदमी, आबादी, खरीद, कमर, चश्मा, साबुन हवा, हज़ार।

पुर्तगाली से—अग्रेज़, चा, चाबी, पलटन, पिस्तौल, कमरा। अलकतरा, अलमारी ।

अग्रेजी से—टिकट, टेबिल, रसीद, रबर, लालटेन, मील, इच, फुट, रेल, पतलून, स्लेट, पेंसिल, स्कूल, फीस ।

मराठी से—प्रगति, लागू, बाजू।

फ्रेंच से—कूपन, कारतूस।

बंगला से—गद्य, उपन्यास आदि।

इतना ही नहीं, हिंदी में बहुत से बाहरी प्रत्यय-उपसर्ग भी शामिल हो गए है। जैसे, फारसी का बे। बेहाथ, बेचारा, बेबस।

वर्ण (रंग) 'वर्' के मानी है ढंक देना । मूल धातु केवल उन्हीं बातों और अवस्था की बात बताते हैं, जिन्हें मनुष्य आंखों देख सकता है, कानों सुन सकता है, जिसकी गंध, स्पर्श और स्वाद का उसे पता रहता है। इन्हीं धातुओं से ऐसे-ऐसे भाव भी बनते है, जिनकी सिर्फ धारणा ही की जा सकती है । इस तरह भिगोना, चोट पहुंचाना, गलाना, मिलाना, मेल बैठाना आदि काम के शब्दों से हम मन के अनेक भावों को जाहिर कर सकते है। जैसे मन को गलाना, जी को चोट पहुचाना आदि । "अंश' से तेजी, जल्दी का भाव निकलता है । घोडा खूब तेज दौड़ता है, इसीलिए उसका नाम अश्व है । आंखों की नजर पैनी होती है, इसलिए इसे 'अक्षि' कहते है। 'दर' का मतलब चीरना या फाड़ना है । चीरा और फाडा जाता है, इसीलिए पेड़ों को द्रुम या दारू कहते हैं।

इसी प्रकार मूल धातुओं से नए-नए शब्द बनते है । साथ-साथ मनुष्यों के संपर्क से, लेन-देन से दूसरी भाषाओं के भी बहुत से शब्द आ जाते हैं।

हिंदी के शब्द

हिंदी में विशेष रूप से तीन तरह के शब्द मिलते हैं, तत्सम, तद्भव और देशज । जो शब्द सीधे सस्कृत से आए हैं और हिंदी में भी ज्यों-के-त्यों रह गए हैं, वैसे शब्द तत्सम कहलाते हैं। जैसे, मन, बल, दिन, कवि, शीत, राजा।

तद्भव शब्द वे हैं, जो मूल मे हैं तो सस्कृत के, पर हिंदी में कुछ बिगड़े रूप में चल पड़े हैं। जैसे काज (कार्य), सूखा (शुष्क) दूध (दुग्ध), रात (रात्रि), आग (अग्नि), सब (सर्व)।

और देशज शब्द वे हैं, जो यहां के आदिम निवासियों की बोली

भाषा की बनावट के माल-मसाले ये शब्द ही हैं। लेकिन इन शब्दों को पास-पास रखते जाने से ही क्या भाषा बन जाती है?

शब्दों में संबंध

मान लीजिए, एक के बाद दूसरा, इस तरह हम बहुत-से शब्द रखते चले जाए—'और धुनि बहु, दादुर सुहाई वेद जनु बटु पढ़ें।' कुछ आया समझ मे। साफ नही आया होगा। हंसी छूट रही होगी।

अब उसे ढंग से सजाकर कहें—

> दादुर धुनि चहु ओर सुहाई,
> बेद पढ़ें जनु बटु समुदाई।

समझने मे अब तो कोई दिक्कत नही रहनी चाहिए।

सजाने का मतलब ही है एक से दूसरे का संबंध ठीक करना। *एक से दूसरे शब्द का संबंध जोड़ने से वाक्य बनता है।* मैं यदि कहूं—मुझे अपनी लाल पेंसिल दीजिए—तो इसका मतलब हुआ संपर्क मे आना। लेकिन आपके संपर्क मे इस तरह आने के लिए यह जरूरी है कि हम, आप, पेंसिल, लाल, देना, इन अलग-अलग शब्दों का आपसी संपर्क ठीक किया जाए। शब्द पास-पास किस हिसाब से बैठाये जाए, यह व्याकरण बताता है। भाव ज़ाहिर करने के लिए शब्दों को व्याकरण की हुकूमत माननी पड़ती है। व्याकरण भाषा की बागडोर है।

संसार के सभी लोग एक ही भाषा नही बोलते। एक से दूसरी भाषा का फर्क होता है। हिन्दी मे हम कहते हैं—मुझे अपनी लाल पेंसिल दीजिए। लेकिन यही कहना हो तो अंग्रेजी मे कहना पड़ेगा 'दो मुझे अपनी लाल पेंसिल'।

पी—पी आदमी। अंग्रेजी का हेड—हेड पंडित। यह तो हुआ उपसर्ग यानी शब्द के पहले जुड़ने वाला। प्रत्यय भी हैं। जैसे फारसी का बाज—हवाबाज। मुकबाज। गिरी—बाबूगिरी, किरानीगिरी। खाना—मालिखाना। हर्जाना।

अर्थों में हेर-फेर

जिस तरह भाषा में नित नए-नए शब्द आकर मिलते-रहते हैं, उसी तरह पुराने शब्दों के नए-नए अर्थ भी सामने आते हैं। जैसे, दारुण शब्द को लीजिए। शुरू में इसका अर्थ दारू यानी लकड़ी का बना हुआ था। उसके बाद हुआ काठ की बनी चीज जैसा कठोर और फिर हो गया 'बहुत ही कठिन'। बंगला में तो अब इसका प्रयोग केवल 'अत्यन्त' के अर्थ में होने लगा है और लोग 'दारुण अच्छा लगा' तक का प्रयोग कर लेते हैं। साढ़े तीन हजार साल पहले ईरान मे 'दईव' शब्द का मतलब था देवता; बाद मे वह अर्थ एकबारगी उलट गया। हो गया राक्षस, दैत्य; ग्रीक 'देमन्' शब्द का भी ठीक यही हाल हुआ। उसका भी अर्थ 'देवता' ही था, पर ईसाई प्रचारकों के लिए अखीर में वह राक्षस हो गया।

इससे एक बात समझ मे आती है कि मनुष्य ही कुछ बनात है और फिर वही उसे तोड़ता है।

जब कोई आपसे कहता है, आपमें बहुत-से गुण हैं, तो आप को खुशी होती है। किंतु इस गुण की बुनियाद में जो 'गो' श है, उसके मानी हैं गाय। यह समझ लेने के बाद गुण की च पर आपको रंज हो सकता है। मगर रंज का कोई लाभ नहीं 'गो' से निकलने के बावजूद आज 'गुण' शब्द का गाय-बैल कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है।

से मलाया की भाषा की जो समानता देखने को मिलती है, उससे बिना किसी संदेह के यह समझा जा सकता है कि कभी मडागास्कर से दक्षिण-पूर्व एशिया का सरोकार रहा था।

लेकिन ऐसे ग्रासार से यह नही कहा जा सकता कि दोनों की भाषाओं का भी संबध रहा था। इंदो-यूरोपीय भाषाओं में लिंग का फर्क मिलता है। इसी तरह प्रशांत महासागर के उपकूल की भाषाओ मे भी वह भेद है। अलग-अलग विकसित होने के बावजूद भाषाओ में किसी-किसी बात में समानता पाई जा सकती है। लेकिन इसी बिना पर यह हर्गिज़ नही कहा जा सकता कि सारी भाषाए शुरू मे एक ही थी।

ज़िंदगी की छाप

भाषाओ मे बीते दिनो का बहुत इतिहास छिपा रहता है। मसलन हिंदी शब्द को ही लीजिए। इसका पुराना नाम हिंदवी या हिंदुई है। हिंदुई यानी हिंदुओ की भाषा। पांच हजार साल पहले की एक पारसी धर्म-पुस्तक 'दसा तीर' मे लिखा है—'अकनूं बिरहम ने व्यास नाम अज हिंद आमद बसदाना के अकल चुनेनास्त।' यानी व्यास नाम का एक ब्राह्मण हिंद मे आया है, जिसके समान कोई पंडित नही। यह हिंद शब्द सिन्धु का बिगडा हुआ रूप है। ईरानी भाषा मे 'स' का 'ह' उच्चारण करते है। इस तरह देश का नाम हिंद, यहा के निवासियो का नाम हिन्दी या हिंदू और यहा की भाषा का नाम हिंदुई या हिन्दी बहुत पहले से है।

हजारों-हजार साल पहले लोगों की ज़िदगी का रंग-ढंग और आचार-विचार कैसा था, इसके नज़ीर भाषा मे ही ढूंढ-कर पाए जा सकते हैं। हमारी भाषा मे 'गो' शब्द की भरमार है। गोत्र, गुरु से लेकर बहुत कुछ मे गाय-बैल विराजमान है।

भाषाओं की रिश्तेदारी

शब्द और व्याकरण के लिहाज से भाषाओं में जैसे फर्क पड़ता है, वैसे ही उनमें बहुत बातों में समानता भी होती है। जिन पुरानी भाषाओं से आज की भाषाएं बनी हैं, उनके आपसी संबंध को देखते हुए उन्हें एक-एक गोष्ठी में रखा गया है।

इसे भाषा का वंश-परिचय कहते हैं। संस्कृत, अवेस्ता, लैटिन, आर्मेनीय, पुरानी फारसी, पुरानी ग्रीक, पुरानी स्लाव, पुरानी केल्टिक, पुरानी जर्मन—इन सभी भाषाओं को एक गोष्ठी में रखा गया है और इसका नाम दिया गया है इंडो-यूरोपीय। इस के सिवाय भी कई और भाषा-गोष्ठी हैं। जैसे, सेमीय-हामीय, बंटू, फिन्नो, फिन्नो-उग्रीय, तुर्क-मंगोल-मांचू, काकेशीय, आस्ट्रीय, भोट-चीनी, उत्तर-पूर्व-सीमांत, द्रविड़, एस्किमो और अमरीका की आदिम जातियों की भाषा-गोष्ठी।

कुछ ऐसी पुरानी भाषाएं हैं, जिन्हें किसी गोष्ठी में शामिल नहीं किया गया है जैसे, मेसोपोटामिया की सुमेर भाषा, पश्चिम ईरान के सुषा इलाके की भाषा एलेमी, पूर्वी मेसोपोटामिया के खास इलाके की भाषा मितान्नी, क्रीट द्वीप की पुरानी भाषा, इटली की पुरानी भाषा। कुछ आज की नई भाषाएं भी हैं, जो किसी गोष्ठी में नहीं पड़ती। जैसे, फ्रांस और बीच की पिरेनिज पर्वतमाला के पश्चिम की भाषा बास्क, [illegible] अफ्रीका की बुशमैन और हटेनटट, जापानी, [illegible] आस्ट्रेलिया की पुरानी भाषाएं।

समानता और असमानता

भाषाओं की समानता को देखते हुए [illegible] सकता है कि कभी इनमें संबंध रहा था।

हैं। पास ही पूर्व आकाश की ओर इशारा करती हुई पेड़ की एक बड़ी डाल पड़ी है। उसके पास पांच ताज़े पत्ते पड़े हैं—पत्तों के साथ घोड़े की दुम के छः बाल धरे हैं। उन बालों में हिरन के कुछ रोयें चिपके हैं।

इन निशानों का क्या समझा जाए? चार शिकारियों के एक गिरोह को पांच दिन पहले सवेरे दक्खिन की ओर जाते देखा है। उनके पास छः घोड़े थे। वे हिरन मारकर ले गए।

लिखकर बताने के बजाय ऐसे कुछ निशानों से अपने को ज़ाहिर करने का तरीका आज भी अमरीका के किन्हीं-किन्हीं आदिवासियों में चलता है, लेकिन जिन्हें इन[चिन्हों के बारे में कोई जानकारी नहीं है, वे इनका कोई मतलब ही नहीं समझ सकते।

चित्र बनाना

निशानों से तो चित्र बनाकर कुछ बताना बहुत आसान है। चित्रों से जो कोई भी मतलब निकाल सकता है। इसके

इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि कभी हमारे यहां पशु-पालन की प्रधानता थी ।

भाषा समाज को कायम रखती है, एक से दूसरे मनुष्य को मिलाती है । भाषा के आधार पर समाज भी आगे बढ़ता है। समाज पर भाषा अपनी छाप छोड़ा करती है ।

लिखावट

'दसेक दिन बाद हमारे यहां खान-पान का आयोजन है । उसमें आप शामिल हों, तो मुझे बड़ी खुशी होगी ।' मगर जिसे यह लिखा जाएगा, वह अगर काला अच्छर भैंस बराबर हो, तो न्योते का कोई मतलब ही नहीं निकलता । ऐसे को तो एक रस्सी में दस-ग्यारह गिरह लगाकर भेज दिया जाए और कह दिया जाए, रस्सी की एक गांठ रोज खोला कीजिए । जिस दिन आखिरी गांठ खोलें और खोलने को गांठ बाकी न बच जाए, उस दिन सीधे दावत वाले के यहां जा धमकिए ।

निशान

दावत की बात जाने दें । मान लीजिए, हम-आप किसी जंगल में तंबू ताने शिकार को पड़े हैं । अचानक कोई जरूरत आ पड़ी । मुझे हफ्ते-भर के लिए शहर जाना पड़ा । जाते समय कह गया, मेरे लौटने के पहले अगर आप कहीं जाएं तो बताते जाएं कि इस बीच वहां और कोई शिकारी तो नहीं आए हैं । कहीं जाना भी हो तो, शाम तक तंबू में जरूर वापस आ जाएं ।

मैं शहर से लौटा । पाया, आप नहीं हैं । तंबू के आगे माटी में चार तिनके गड़े हैं । तिनके दक्खिन की ओर थोड़ा झुके-से

बनाया गया है। (६) १८२४—सरदार के घोडे मारे गये। (७) बाढ के पानी में लोग बह गये। (८) १८४८—भाले से एक आदमी मारा गया। (९) १८५३—स्पेन से कंबल पहुंचे। (१०) १८६९—पूर्ण सूर्य ग्रहण।

तसवीर की लिखावट

चित्र बनाकर समझाने में भी कठिनाई है। किसी ने मछली पकड़ी, पकाई और खाई—इतनी-सी बात समझाने के लिए तीन बार तीन प्रकार से आदमी का चित्र बनाया होगा। इसी तरह अगर यह दिखाना हो कि समुद्र में नाव पर कुछ लोग बैठे हैं, तो यह दिखाना होगा कि समुद्र है, नाव है, नाव में लोग बैठे हैं। चित्र मे ये सारी बातें यानी नाव, पानी, लोग अलग-अलग नही दिखाई जा सकती।

लिए निशानों का खास मतलब पहले से जान रखना जरूरी नहीं है। ऊपर उत्तरी अमरीका के आदिवासियों की बनाई एक तसवीर है।

इस चित्र में एक स्मरणीय घटना की कहानी है। इसमें बताया गया है कि पांच डोंगियां चलीं। पहली डोंगी में सोलह, दूसरी में नौ, तीसरी में दस और चौथी-पांचवी में आठ-आठ आदमी थे। जिस पर जितने आदमी थे, उतनी लकीरें खिंची हुई हैं। दल का सरदार मछरंगा दल का आदमी था, इसीलिए उसकी डोंगी के ऊपर मछरंगा की तसवीर बनी है। इस सफर में उन्हें तीन दिन लगे थे—धनुष-जैसी तीन झुकी लकीरों के नीचे तीन काली बिंदियों से सूरज का इशारा किया गया है। बीच में जो घुड़सवार है, वह जादू जानने वाला है। वह भी साथ गया था। कछुए के चित्र से यह दिखाया गया है कि सब लोग सकुशल किनारे पहुंच गये थे। बाईं तरफ एक गिद्ध है। वह साहस का लक्षण है और नीचे जो अजीबोगरीब जीव हैं, वे सब उस दल के मददगार थे।

चित्र मे बताया तो बहुत कुछ गया है, पर सब स्पष्ट नहीं हो सका है। यह नहीं समझ मे आता कि वह घुड़सवार डोंगी वालो का संगी कैसे हुआ।

ऐसी एक और तसवीर देख लें—

यह १८०० से १८७० तक की बरस-पंजी है। उस समय के गोष्ठी-जीवन में जो याद रखने लायक घटनाएं गुजरी सब इन चित्रों में अंकित हैं। (१) गिरोह के तीस आदमी दूसरे गिरोह के हाथों मारे गये—१८००। (२) १८०१—चेचक का प्रकोप। (३) १८०२—नाल-बंधा घोड़ा चोरी चला गया। (४) १८१३—(हूपिंग) बंदरखांसी का जोर (५) १८१७—सूखी लकड़ी से धमंगोला

जो आंखो नहीं देखी जा सकती, जिनकी कोई शक्ल नहीं होती, उनकी तसवीर कैसे बनाई जाए ? मसलन, पकड़ना, रसोई बनाना, खाना, पतला, मोटा, मस्त, नर्म, भविष्यत, भाग्य— इनमें से कुछ तो काम हैं, कुछ हैं गुण और कुछ हैं धारणा। इनकी कोई शक्ल नहीं होती। इसलिए अगर इन्हें तसवीरों में बताना पड़े, तो सब की कोई-न-कोई मनगढ़ंत तसवीर ठीक कर लेनी पड़ेगी।

नीचे की तसवीरों में गौर कीजिए, आज से कोई चार हजार साल पहले मेसोपोटामिया में ऐसे भाव तसवीर में किस तरह बनाए जाते थे—
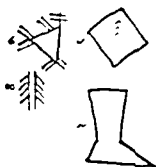
नं० १ में महीना बताया गया है। चौकोर-सा जो बना है, वह है सूर्य। उसके भीतर का एक-एक निशान एक दिन का द्योतक है। इसलिए वह जितने दिन बताता है। दूसरी तसवीर में एक पैर पर खड़े होने का भाव बताया गया है। नं० ३ में 'चीरना' बताया गया है। और चोंटे से ऊपर बताया गया है।

लेकिन जब तसवीर नहीं खींची जाती, उसे लिखने के काम में लगाया जाता है, तो पकड़ना, रसोई करना, खाना-पीना, इन सबसे आदमी को अलग किए बिना चारा नहीं। सिर्फ आदमी की एक तसवीर रहेगी। तसवीर को देखते ही लोग समझ जाएंगे, यह आदमी है। वह क्या कर रहा है, क्या नहीं, यह सब जानने की जरूरत नहीं। वैसे ही, मछली का चित्र होगा, तो लोग समझ जाएगे।

इससे यह न समझें कि मछली की हूबहू कोई तसवीर बनानी है, जैसे-तैसे लकीरों से समझा भर देने से काम चल जाएगा। मछली की शक्ल कैसी हो, मामूली तौर से यह भी बता देना जरूरी है, नही तो जो जैसा चाहेगा, बना देगा। इससे समझने मे दिक्कत होगी। अलग-अलग देशों में मछली की कैसी-कैसी तसवीर अंकित मिली है, उसके नमूने नीचे हैं।
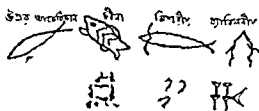
पहली पंक्ति की तसवीरें एक-बारगी आदिम युग की है। मछली का ढांचा साफ झलकता है। लेकिन बाद में तसवीरों की लिखावट में मछली की जो शक्ल निखरी है, उससे मछली की शक्ल का कोई मेल ही नही है।

धारणा की तसवीर

आदमी, मछली—ये चीजें तो आंखों देखी जा सकती हैं। इसलिए इन्हें चित्रों में आंकना मुश्किल काम नहीं है। लेकिन

बातों के लिखित रूप देखिए,
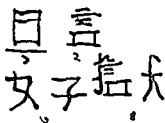
न० १ की तसवीर का मतलब है सवेरा। एक सरल रेखा के ऊपर चौकोना सूरज है, सूरज क्षितिज पर उगा है। न० २ का अर्थ है 'शब्द', नीचे का चौकोर मुह का बोधक है, ऊपर की आडी रेखा मुह से बात निकलने का आशय जाहिर करती है। न० ३ मे एक साथ दो तसवीर हैं। इनसे 'खुशी' बताया गया है। पहली तसवीर 'मा' है, दूसरी 'शिशु'। मा के पास सतान—यह दिखाकर सुख के भाव को जाहिर किया गया है। न० ४ मे भी जोडा चित्र है, जिससे मुकदमे की बात बताई गई है। इस चित्र के तीन हिस्से है; पहले और तीसरे—दोनो ही हिस्से का मतलब कुत्ता है। उन दोनो के बीच छोटे मे नं० २ वाली तसवीर आंकी गई है, यानी शब्द बनाया गया है। मानो मामला-मुकदमा दो कुत्तो की आपसी लडाई हो!

तसवीर के साथ आवाज

अब तक शब्दहीन तसवीरो की ही चर्चा होती रही। जब तक तसवीरों के साथ शब्दो का कोई नाता नही था, तब तक लिखावट भाषा से अलग चीज रही थी।

लेकिन जो बाते तसवीरों मे आंकी जाती थी, उन्हें लोग जबान से भी निश्चय ही जाहिर कर सकते थे। जैसे, कोई भी

इस तरह के भाव मिस्र में कैसे बनाए जाते थे, सो नीचे की तसवीर में देखिए—

नं० १ में आंख से आंसू गिर रहा है यानी रोना बताया गया है। दूसरे में कलम के साथ धागे में दवात बंधी है यानी लिखने का इशारा है। नं० ३ में बत्तख है। बत्तख से बच्चे का मतलब हुआ। बत्तख सुस्वादु भोजन है, इसलिए उससे यह बताया गया है कि तब मां-बाप के लिए बच्चे कितने प्रिय थे। नं० ४ में मधुमाछी से 'राजा' बताया गया है। पुराने मिस्र मे राजे-रजवाड़ों को लोग किस नजर से देखते थे, यह पता चलता है। राजा की ताकत और उसके अधिकार को तब के लोग उतना महत्व शायद नहीं देते थे, क्योंकि ऐसा होता तो बाघ-सिंह की तसवीर से 'राजा' का संकेत दिया जाता। लेकिन राजा को 'मधुमाछी' से बताया गया है—यानी उनकी संगठन-शक्ति को अहमियत दी गई है।

चीन की लिखावट मे चित्रों की छाप आज भी रह गई है। आज जैसे निशान वे बनाते है, उनसे यह समझना मुश्किल है कि वे चित्र किस चीज़ के है, मगर उन निशानों के मतलब से मालूम हो जाता है कि वे चित्रों से कैसे बने। नीचे ऐसी चार

बातों के लिखित रूप देखिए,

नं० १ की तसवीर का मतलब है सवेरा। एक सरल रेखा के ऊपर चौकोना सूरज है, सूरज क्षितिज पर उगा है। नं० २ का अर्थ है 'शब्द'; नीचे का चौकोर मुंह का द्योतक है, ऊपर की आड़ी रेखा मुंह से बात निकलने का आशय जाहिर करती है। नं० ३ में एक साथ दो तसवीरें हैं। इनसे 'खुशी' बताया गया है। पहली तसवीर 'मां' है, दूसरी 'शिशु'। मां के पास संतान—यह दिखाकर सुख के भाव को जाहिर किया गया है। नं० ४ में भी जोड़ा चित्र है, जिसमें मुकदमे की बात बताई गई है। इस चित्र के तीन हिस्से हैं, पहले और तीसरे—दोनों ही हिस्से का मतलब कुत्ता है। उन दोनों के बीच छोटे में नं० २ वाली तसवीर खड़ी की गई है, यानी शब्द बताया गया है। मानो मामला-मुकदमा दो कुत्तों की आपसी लड़ाई हो!

तसवीर के साथ आवाज

अब तक शब्दहीन तसवीरों की ही चर्चा होती रही। जब तक तसवीरों के साथ शब्दों का कोई नाता नहीं था, तब तक लिखावट भाषा से अलग चीज रही थी।

[illegible] तसवीरों में बातें आने लगीं, उन्हें बोल [illegible]
ज [illegible] भी जाहिर कर सकते थे। जैसे कोई भी

बात बतानी हो, तो दो तरह से बताई जा सकती है—लिखकर यानी तस्वीरों से और बोलकर यानी शब्दों से।

शुरू में तसवीर और आवाज अलग-अलग थी। बाद में धीरे-धीरे चित्र से आवाज बताई जाने लगी। जैसे, एक ओर दो लकीर हों और उनके पास घड़ी रखी हो—ऐसी एक तसवीर रहे, तो लकीरों से दो तथा घड़ी से पहर का अर्थ होगा—यानी उसका मतलब होगा दोपहर। यहां पर दो तसीवरों के दो शब्द हुए। दोनों को जोड देने से जो मतलब निकलता है, उससे तसवीरों का कोई संबध ही नही झलकता।

मिस्र मे बहुत पहले इसी तरह तसवीरों से आवाज समझाई जाती थी।

ऊपर के चित्र मे नं० १ से मतलब है मुह का। मुह को कहा जाता था 'र'। लिहाजा 'र' बताने के लिए ऐसी एक तसवीर बना देने से काम चल जाता था। उस चित्र का और कोई अर्थ नहीं रहा, वह केवल 'र' आवाज़ की तसवीर हो गई। दूसरी तसवीर कान की है, लेकिन चूकि मिस्र की भाषा में कान को 'सदम' कहा जाता था, इसलिए उससे सिर्फ 'सदम' की आवाज का मतलब बताया गया है। नं० ३ तसवी बया चिड़िया की है। बया को मिस्री भाषा मे 'उर' कहते थे। चित्र से वही 'उर' बताया गया है।

मेक्सिको के अजटेकों की लिखावट में लेकिन कुछ फर्क पाया जाता है। नीचे तीन चित्र हैं, उन्हें देखिए। तीनों ही चित्र शहरों के नाम हैं।

१ और २ नं० के चित्रों के ऊपरी हिस्से में हिरन की तसवीर है—नीचे के हिस्से मे दांत की। अजटेक लोग हिरन को 'मजातूल' और दांत को 'लातलि' कहते है। लेकिन शहर का
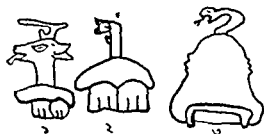
नाम दोनों शब्दों को पूरा जोडकर नही बना है। पहले शब्द से लिया गया 'मजा' और दूसरे से लिया गया 'तलान' और दोनों के मेल से 'मजात्लान शहर का नाम बन गया। दूसरे ढग से भी शहर का नाम बना है। न० ३ तसवीर मे 'कोम्रातेपेक' शहर बताया गया है। सांप को कहते है 'कोम्रात्ल' और साप के नीचे है पहाड। पहाड हुआ 'तेपेक'। पहले शब्द से सिर्फ 'कोम्रा' लिया गया और दूसरा शब्द पूरा का पूरा ले लिया गया। इस तरह बन गया कोम्रातेपेक।

लिपि-पाठ

आदमी की सभ्यता की एक निशानी लिखना सीखना है। मन के भावों को हरूफो मे बांध रखना। इसी के बल पर आदमी इतना आगे बढ सका है।

लिखावट धीरे-धीरे आगे बढती रही है। पहले चित्र था बाद में हुए हरूफ—अक्षर। इन दोनों मे समानता कहां है? दोनों के लिए निशान की जरूरत पड़ती है। निशान के बगैर तसवीर

भी नहीं हो सकती, हरूफ भी नही। इसलिए निशान के छोर पकड़कर चलने से ही लिखावट की राम कहानी जानी जा सकती है।

पुरानी लिखावट के बहुत सारे नमूने भूमध्य सागर के इलाके में पाए गए हैं—मिस्र, सुमेर, हिटाइट, क्रीट के हरूफ। इसके सिवाय सिंधु की उपत्यका, चीन, प्रशांत महासागर के ईस्टर-द्वीप, मेक्सिको और मध्य अमरीका में भी वैसे नमूने पाए गए हैं।

मान लीजिए, माटी के अंदर से कई हजार साल पहले की कोई लिखावट बाहर निकाली गई। अब उसे पढा कैसे जाए? उसे पढ़ने के लिए कोई ऐसा एक शब्द जान लेना पड़ेगा, जो उस अजानी लिपि में जरूर ही है। वह शब्द अगर किसी चीज़ का नाम हो तो ज्यादा अच्छा हो। क्योंकि नाम ऐसी चीज है कि एक से दूसरी भाषा में जाकर भी बहुत ज्यादा नही बदलता। मगर ऐसा नाम मिले तो कैसे? खैर, हम यह देखें कि मिस्र की पुरानी लिखावट पढी कैसी गई थी।

मिस्र की लिखावट खोजकर पाई तो गई थी बहुत पहले पर काफी लंबे अरसे तक कोई उसे पढ नही सका। लेकिन एकाएक एक जगह एक ऐसा पत्थर पाया गया, जिसमें एक ही बात ग्रीस और मिस्र के हरूफ मे लिखी हुई थी। उससे मिला-जुला कर मिस्र की पुरानी लिखावट में से टालेमी शब्द ढूँढ़ निकाला गया।

इससे यह जाहिर होता है कि एक ही बात अगर दो भाषाओं में लिखी मिल सके, तभी अनजानी लिपि को पढ सकना मुमकिन है। चूंकि यह उपाय नहीं मिल सका, इसीलिए संसार की

बातें

बहुत-सी पुरानी लिपियों को आज तक नहीं पढ़ा जा सका। जैसे क्रीट या सिंधु की उपत्यका की लिपियां।

हरूफ से पहले

क्रीट की सबसे पुरानी लिपि कोई चार से पांच हज़ार साल पहले की है। उसमें चित्रों के ज़रिये भावों को ज़ाहिर किया गया है। लेकिन वहां बाद की एक ऐसी लिपि पाई गई है, जो सीधी या टेढ़ी लकीरों से लिखी गई है। उन सीधी-टेढ़ी लकीरों से तरह-तरह की आवाज़ बताई गई है, इसमें कोई संदेह नहीं।

तीन चार हज़ार साल पहले एशिया में ताहिनी लोगों का बड़ा दबदबा था। इसके लिखित प्रमाण हैं कि उनसे असीरिया और मिस्र के लोगों का लेन-देन चलता था। असीरिया वालों से उन्होंने एक प्रकार का नुकीला हरूफ लिखना सीखा था। चित्र बनाकर भाव बताना ही उनकी अपनी लिखावट थी। ऐसी लिखावट वे स्मृति-स्तंभ के लिए पत्थर या धातु पर लिखा करते थे। हरदम लिखने के लिए असीरिया वाली लिपि काम में लाया करते थे।

नुकीले हरूफ

हरूफ निकलने के पहले मध्य पूर्व की ज़्यादातर लिपियां खंती से लिखी हुई-सी पाई जाती हैं। लिखने का यह ढंग सुमेर वालों से आया था। आज से कोई पांच हज़ार साल पहले सुमेर के लोगों में लिखने का यही ढंग था। उनमें पहले दो तरह की लिखावट चालू थी—(१) पत्थर पर खोदी जाने वाली चित्र-लिपि, (२) मिट्टी पर सीधी-टेढ़ी लकीरों वाली लिपि। मिट्टी पर लकीर खींच-खींचकर लिखना सहज नहीं। इसमें समय भी ज़्यादा लग जाता। सो लिखावट में चित्र का भाव धीरे-धीरे घटने लगा।

बाद में मिट्टी के फलकों पर लिखे जाने पर भी लिखने का ढंग गलो-अंगा बदल गया। उसमें से चित्र का भाव घट गया और वह निशान रह शब्दों के चिह्न हो उठे। उससे एक और भी सहूलियत

प्राचीन चित्रलिपि | बाद का रूपान्तर | प्राचीन बाबिलोनीय | असीरीय

पानी

मछ

साँड़

सूर्य, दिन

दाना, खाओ
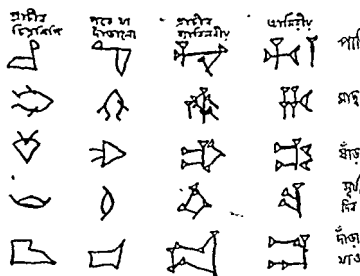
हुई। सहूलियत यह हुई कि आसानी से जल्दी-जल्दी लिख सकना संभव हुआ। आज जैसे कागज पर लिखा जाता है, उस ज़माने में माटी पर लिखा जाता था। लिखने के लिए खास तरह की कलम काम में लाई जाती थी। हरूफों में इसीलिए कोन-नुमा ढंग आने लगा। माटी पर टेढ़ी लकीरें काटना कठिन था, इसलिए सिर्फ सीधी रेखाओं से ही लिखा जाने लगा। इसी की नकल पर पत्थर पर भी इस ढंग की लिखावट शुरू हुई।

लेकिन चित्र-नुमा ढंग जो एकबारगी उठ ही गया, ऐसी बात नहीं। शब्दों के अर्थ के लिए बहुत जगह शब्द के साथ

चित्र भी जोड़ दिया जाने लगा। जैसे, मरे हुए के नाम के आगे बहुत बार हम लोग स्वर्गीय लिखने के बजाय * ऐसा एक चिह्न लगा दिया करते है। पढते समय इस चिह्न के उच्चारण की जरूरत नहीं होती, जैसे हम विराम, पूर्णविराम आदि चिह्नों को पढते समय नही पढा करते। सुमेर वालो की लिखावट में ऐसे चिह्न देवता, आदमी, देश, शहर, नदी, पेड और पहाड के नामो के साथ लगाए जाते थे। मान लीजिए, हमने सरस्वती लिखा। यह सरस्वती तो देवी का भी नाम हो सकता है। किसी स्त्री या नदी का भी नाम हो सकता है। समझने मे कोई गडबडी न हो, इसीलिए वैसा चिह्न लगा दिया जाता था।
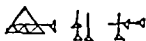
ऊपर के चिन्हो मे न० १ देवता का चिन्ह है, न० २ मे 'अ' शब्द बताया गया है, न० ३ मे 'सुर' शब्द समझाया गया है; ४ न० मे देवता-सूचक चिन्ह के पास असीरिया के ढग पर 'असुर' शब्द लिखा है। असीरिया मे लेकिन 'असुर' के मानी देवता है।

मिस्र शब्द

आज से कोई साढे चार हजार साल पहले चीन में लिखने

का ईजाद हुआ था। हड्डियों पर लिखावट के जो सबसे पुराने नमूने पाए गए हैं, वह बेशक उतना अधिक पहले का नही है। उन हरुफों से ऐसा लगता है कि चीन मे भी लिपि का विकास दूसरी-दूसरी लिपियों की तरह ही हुआ है। वहां भी चित्र की जगह आवाज़ आ बैठी थी।

लेकिन चीनी भाषा है ही कुछ इस तरह की कि उसमें तरह-तरह की आवाज देकर ज्यादा शब्द तैयार नहीं किये जा सकते। इसलिए एक ही शब्द के कई अर्थ होते हैं। सो अलग-अलग मतलब जताने के लिए शब्दों के साथ अलग-अलग चिन्ह लगाने की जरूरत पड़ती है। आवाज़ के साथ ऐसे चिन्ह देकर मिश्र शब्द लिखे जाते हैं। चीनी भाषा में सैकडे नब्बे शब्द ऐसे मिश्र शब्द होते हैं।

जैसे, 'फंग' एक शब्द है। इसके साथ अलग-अलग चिन्ह लगा देने से उच्चारण तो यही रहेगा, पर अर्थ एकबारगी बदल जाएगा। 'फंग' का मतलब चोखूटा है। अगर उसके साथ मिट्टी का चिन्ह लगा दें, तो मतलब निकल आएगा, 'रास्ता'। और अगर 'फंग' के आगे बात का चिन्ह जोड़ दें तो अर्थ हो जाएगा—खोज-खबर लेना। उसी 'फंग' के आगे स्त्री का चित्र बना दें तो 'बाधा देने' का अर्थ निकलेगा। चिन्ह गूंगे होते हैं, लेकिन शब्द बोलते हैं। इसलिए 'फंग' कहें तो समझना मुश्किल है। उसे लिखा जाए तो अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

चीनी भाषा में शब्दों के उच्चारण बहुत बदल गए हैं, मगर लिखावट की शक्ल वैसी ही रह गई है। किसी एक शब्द का उच्चारण कोई कुछ करता है, कोई कुछ। इसलिए अगर उत्तर और दक्खिन चीन के लोग आपस में बातें करें, तो एक-दूसरे

की बात नही समझ सकते। लेकिन एक आदमी लिखे तो दूसरे को समझ लेने में कोई दिक्कत नही पड़ती।

मिस्र के चित्र-अक्षर

मिस्र की बहुत पुरानी लिखावट के जो नमूने पाए गए हैं, वे आज से लगभग छः हजार साल पहले लिखे गई थी। पहले तसवीर बनाकर भाव बताने का रिवाज था। यादगार के खंभे, वस्त्र और घर-द्वार-संबंधी महत्त्व के कागजात रखने और धार्मिक कार्य के लिए पत्थर या काठ पर खुदाई करके लिखा जाता था। कभी-कभी कलम और स्याही से कागज पर भी लिखा जाता था। कागज पेपिरस पेड के पत्तो का बनता था।

हरदम लिखने के लिए खूबसूरत तसवीर बना-बनाकर लिखना संभव नही। इसलिए लिखने का ढंग बदलकर सहज होता गया। पिछले पन्ने पर मिस्र के ढंग से मछली किस सहज ढंग से लिखी गई है, इसका नमूना है।

धीरे-धीरे चित्र के साथ शब्द जोड़ा जाने लगा, कहीं-कहीं चिन्ह देकर कुछ व्यंजन वर्ण बनाए गए। ऐसे चौबीस चिन्ह तैयार हुए थे। हरूफ बनाने के माल-मसाले मिस्रवालों के हाथों थे, फिर भी वे चित्र, शब्द और अक्षर का व्यवहार साथ-साथ ही चलाते गए।

हरूफ को अंग्रेजी में 'अलफाबेट' कहते हैं। यह शब्द ग्रीक भाषा से आया है। ग्रीक भाषा के पहले दो अक्षरों के नाम है—अलफा और बेटा। लेकिन यह नाम उनका भी अपना नही है। ग्रीकों के ये दो नाम सेमाइट लोगो से मिले। सेमाइट के पहले दो अक्षरो के नाम 'अलेफ्' और 'बेथ्' हैं।

ग्रीक लोगों ने फिनिशियनों के मारफत सेमाइटों से ही हरूफ लिखना सीखा था। संसार में सबसे पहले सेमाइटों ने ही अक्षर से अक्षर मिलाकर लिखना सीखा था। चिन्हों में चित्रों का संबंध एक बार भी हटा कर उसकी जगह उन्होंने शब्द की ध्वनि को ला बैठाया था।

उनके हरूफ में लेकिन एक असुविधा यह थी कि उसमें कोई स्वर वर्ण नहीं था। इसलिए ग्रीकों ने सेमाइटों के कई व्यंजन वर्णों को स्वर वर्ण बना दिया। इस तरह 'ए' 'इ' 'आइ' 'ओ' यू' पैदा हुआ।

पुराने भारत ने भी लिखावट में सेमाइट ढंग को अपनाया था, उसीसे खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपि निकली। इसी ब्राह्मी लिपि से आजका देवनागरी हरूफ बना। सेमाइटों के हर व्यंजन वर्ण में एक 'अ' मिलाकर भारतीय लिपि में सुविधा को आँमान किया गया। इस ढंग से 'प्' प हो गया, 'ब्' ब हो गया। आकारादि दूसरे स्वर वर्ण के चिन्ह व्यंजन वर्ण के साथ जोड़ दिये गए।

एक से दूसरी लिपियां किस तरह निकलीं, यह देखिए—

सब कुछ की जड़ में

छांदोग्य उपनिषद् में दो कहानियां आई हैं । आज की भाषा में वे कहानियां इस तरह की होंगी—

नारद और सनत् कुमार

पहली कहानी में है कि नारद ने सनत् कुमार से कहा—'आचार्य, मुझे शिक्षा दीजिए ।' सनत् कुमार ने पूछा—पहले यह तो बताओ कि तुम्हारी सूझ-बूझ की पहुच कहां तक है ।

नारद ने अपनी जानकारी की एक सूची सुनाई । सूची खासी लंबी थी । उससे पता चला, नारदजी कुछ कम नहीं जानते । वेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, शब्दशास्त्र, गणित, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नक्षत्रविद्या, कालतत्व, धनुर्वेद—सब उन्हें मालूम है । इसके सिवाय वे साप का विष झाडना जानते हैं, खुशबू तैयार करना जानते हैं, नाचना-गाना जानते है ।

सुन चुकने के बाद सनत् कुमार बोले—यह सब कुछ है नाम । नाम पर दखल रहने से एक आदमी वहा तक आजाद हो सकता है, जहां तक नाम की दौड़ रहती है ।

नारद ने पूछा—नाम से भी बडी कोई चीज है क्या ? सनत् कुमार ने कहा—क्यों नहीं ? नाम से बडी है भाषा । भाषा नहीं होती, तो कुछ भी नहीं जाना जा सकता । धरती, पानी, आकाश, हवा, आदमी, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे, सत्य और असत्य, अच्छा और बुरा, सत्य—सब कुछ को भाषा के द्वारा ही बताया जाता है । भाषा जहां तक पहुचती है, एक आदमी वहां तक स्वाधीन हो सकता है ।

नारद ने फिर पूछा—भाषा से भी कोई बड़ी चीज़ है या नही ? इस तरह दोनों में बातें होने लगीं।

नारद के एक के बाद दूसरे सवाल के जवाब में सनत् कुमार ने जो कुछ कहा, थोड़े मे वह यों है—

भाषा से बडा है मन। मुट्ठी में जैसे हम आँवले को थाम लेते हैं, वैसे ही नाम और भाषा को थामे रहता है मन। मन से हम किसी बात को तै करते हैं, फिर उसे अधिकार में लाते हैं।

मन से बडा है सकल्प। पहले मन सकल्प करता है, फिर उसे धारणा मे लाता है, फिर होंठ हिलाता है और तब शब्द बाहर होता है।

सकल्प से बडा है चित्त। क्योंकि मनुष्य पहले अनुभव करता है उसके बाद सकल्प करता है।

चित्त से बडा होता है ध्यान।

ध्यान से बडा है विज्ञान। विशेष रूप से जानने को ही विज्ञान कहते हैं।

विज्ञान से बडा है बल। एक बलवान सैकडों जानकारों को अकेले कंपा दे सकता है। बल रहने पर ही मनुष्य उठ खड़ा हो सकता है, समीप पहुंच सकता है, देख सकता है, सुन सकता है, धारणा कर सकता है, समझ सकता है, विशेष रूप से जान सकता है।

बल से बडा है अन्न। दस दिनों तक दोनों जून बिना खाए कोई जिन्दा भी रह जाए, तो वह देख भी नही सकता, सुन नहीं सकता, धारणा नही कर सकता, समझ नही सकता, काम नहीं कर सकता, जान नही सकता।

अन्न से भी बड़ा है पानी। अगर बारिश अच्छी न हो, तो

ठीक फसल नही लगेगी और उपज न ही तो मारे फिक्र के प्राण रोते रहेंगे। अगर अच्छी वर्षा हो, तो उपज अच्छी होगी, प्राणों में आनन्द रहेगा।

पानी से बड़ा है तेज। हवा के सहारे सूरज की रोशनी आसमान को तपा देती है। लोग कहने लगते हैं—'बेहद तपिश है, जरूर बारिश होगी। और, मेघ गरज उठते हैं, बिजली चमकने लगती है। लोग-बाग इन आसारों पर ही कहने लगते है—अब वर्षा होगी।

आकाश तेज से भी बडा है। सूरज, चांद, बिजली, नखत, अग्नितये सब आकाश मे रहते हैं। आकाश के मानी खुला हुआ, शून्य। चूंकि आकाश है, इसलिए हम आवाज़ कर सकते हैं, सुन सकते हैं, आपस में बातें कर सकते हैं।

स्मृति, आशा, प्राण

आकाश से बड़ी है स्मृति। मनुष्य अगर याद नही रख सकता, तो कही बहुतों के जमा होने पर भी एक की बात दूसरे के कानों नही बैठती, कौन क्या कह रहा है, नहीं समझ में आता, कुछ भी जान सकना संभव नही होता।

स्मृति से बडी है आशा। आशा मनुष्यो को उत्साह देती है। प्रेरित करती है। जो नहीं मिल सका है, उसे पाने की चाह आशा है। हम जो-कुछ भी जानते हैं, जो कुछ भी करते हैं, वह कुछ-न-कुछ पाने की आशा से करते हैं। अपना अभाव मिटाने के लिए करते हैं।

आशा से भी बड़ा है जीवन। सबकी जड़ मे जीवन ही है नाम से आशा तक जितने कुछ का जिक्र किया गया, अगर जीवन न हो, तो उनमें से एक भी न हो।

पहली कहानी यहीं खत्म हुई। इसस नारदजी ने क्या सीखा, पता नही। मगर इसमे जो सीखने की बात है, वह यह कि मनुष्य की सारी सृष्टि की जड़ में जीवन है। हम जिंदा हैं, इसीलिए कमी महसूस करते है, जो पा नही सके हैं उसकी चाह रखते है। पाने के लिए मिहनत करते हैं, काम करते हैं। कुछ करने के लिए विशेष रूप से जानने की जरूरत पडती है और लगन से ही कुछ जाना जा सकता है। जो हम जानते हैं, कह कर उसे जानते हैं।

दलहीन दल्भ की कहानी

दूसरी कहानी एक बगले के बारे मे है। उसके बाप का नाम था दल्भा। वह दल से बाहर होकर मारा चलता था।

कहानी उस समय की है, जब दल छोडकर रह सकना किसी के लिए सभव नही था। जीने के लिए तब दल बांधकर रहना जरूरी था। वह यह देखने के लिए निकला था कि अपनी कोशिश पर ज़िदा रहा जा सकता है या नहीं।

ऐसे में उसकी नज़र मनुष्यो के एक गिरोह पर पडी। दल के सरदार के बदन पर सफेद निशान था। दल के लोग अपने को कुत्ते के वंश का बताते थे। अपना परिचय भी उसी नाम से देते थे। दल के एक-एक आदमी का नाम कुत्ता ही था।

बगले ने सुना, दल के लोग अपने सरदार से कह रहे थे—'भगवन्' हमारे लिए अन्न का प्रबन्ध करें, हम खाना चाहते हैं।' उपज का हिस्सा सरदार का होता, शायद इसीलिए उसे वे *भगवान्* कह रहे थे।

सरदार ने कहा—ठीक तो है। कल सवेरे मेरे पास आओ।

बगला दूसरे दिन वहाँ इन्तजार में रहा कि देखें, क
होता है।

लोग जमा हुए। मिल-जुलकर एक खास अदा से हिल
डोलने लगे। वे जरूर नाच रहे होंगे।

काम करते हुए लोग जैसे जोर-जोर से साँस छोड़ते हुए
'हुं-हु' करते हैं, उसी तरह वे बोलने (गाने) लगे—ग्रोम्। हम
भोजन करते है। ग्रोम्। पान करते हैं।

कहानी मे इसका ज़िक्र नही है कि इस दृश्य से बगले की
नजर खुली या नही। मगर हम इतना मान ले सकते हैं कि यह
सब देख-सुनकर उसने यह जरूर समझा था कि मनुष्य अकेले
नही जी सकते। उनका दल को समाज कहते हैं।

इसी पर से यह भी जाना जाता है कि खा-पी कर जीने के
लिए मनुष्य का जो काम है, उसीसे नाच-गीत, ताल-छंद
निकला।

खाने-पीने की बात उठते ही शायद उस न्योते की याद
आ गई! बहुत पहले आ पहुँचे। चलिए तब तकआप क
विवाह-घर के अंदर घुमा लायें।

उधर देखिए, औरतें थाली में क्या ले जा रही हैं? लगत
है, थाली में पहाड़ बनाया हो। हकीकत में वह पिसा हुअ
चावल है, लोग इसे 'श्री' कहते है।

व्यवहार और बहार

'श्री' से केवल शोभा ही नहीं होती, शुभ भी होता है। श्री
वृद्धि होती है। इसीलिए सभी शुभकार्यों में श्री की जरूरत
होती है। यह विश्वास आज का नही, बहुत पुराना है। जब
मनुष्य टोटकों में विश्वास करता था, तब का।

श्री का एक नाम और है लक्ष्मी । लेकिन श्री पिसे चावल के सिवाय कुछ नही है । उस जमाने मे सोना-रूपा, महलो-मसनद नही, चावल ही लक्ष्मी माना जाता था । पिसे चावल से श्री बाँधने का मतलब है लक्ष्मी को बाधना । लक्ष्मी मे रूप और गुण, दोनों का समावेश है ।

तो श्री केवल रूप नही है, गुण भी है । केवल बहार नहीं, व्यवहार भी । किसी खूबसूरत आदमी से कहिए, 'अहा, देखने में कितने सुन्दर हैं आप ! मगर ठीक उस फल के समान, जो किसी काम नही आता ।' यह सुनकर घू सा ताने पीछे देखेगा । क्योंकि वह फल किस काम का, जो सुन्दर तो है पर निकम्मा है । हां, लक्ष्मी के साथ कात्तिकेय की तुलना कर दें तो कोई गुन भी हो । शौकीन जमीदारों के चक्कर मे आकर आज के कात्तिकेय भी बाबूनुमा बन गए है । मगर तब के जो कात्तिकेय थे, वे सेनापति थे । जीवट के सेनापति । बदस्तूर काम के ।

सजाना-संवारना

देखिए भला किस कदर धूल उड़ती है । वह जो आंगन बुहार रहा है, उसके काम मे कोई श्री नही है । यह न सोचें कि श्री से मेरा मतलब पिसे हुए चावल से है । काम मे श्री है, यह कहने का मतलब है कि वह संवारकर काम नहीं कर सकता ।

काम करना हो तो संवारकर करना चाहिए । सिर्फ हाथ-पांव हिलाने से ही काम नही होता । हाथ-पांव और दिमाग को साथ-साथ काम कराना पड़ता है । वह निरा अनाड़ी है । उसे ...ने का कोई हिसाब नहीं । झाड़ू कैसे पकड़ना

जो ढंक देता है, ओट देता है, उसी को छद कहते है। मंडप का छद फिर क्या हुआ ? दूल्हे के माथे के ऊपर चादनी लगाई जाती है, जिससे दिन का ताप और रात का शीत न लग सके। सर बचाने की जहां गुंजाइश है, वह चादनी ही छद है। सिर के ऊपर का भाग खुला न रहे, इसलिए छत या छद से उसे बाधा जाता है। जो बिखरा हुआ है, बेतरतीब है, छद उसे बाधता है। मडप मे रहती है श्री और उसे घेरे रहता है छद।

छन्द का जागना

छद की शक्ति को उकसाकर जगाया जाता है। उसे उकसाने का मतलब है मगल-सूत्र बाधना।

गर्ज़ यह कि श्री के समान छद भी मगल ही के लिए है। इसीलिए हम लोगों मे छद की इतनी पूछ है।

जरा मडप मे चलकर देखे, छद को जगाया किस तरह जाता है। छद का मतलब जब ढक देना या ओट कर देना है, तो वर के मानी भी ज़रूर ही छद होगा। क्योकि 'वर' से भी ढकने, ओट देने का तात्पर्य निकलता है। उस सोये छंद को मडप मे वरण माला के आघात से, जोत की आंच से वाणी की झकार से हिला-डुलाकर जगाया जाता है। वरण-माला में वही चीज़ें रहती है, जो जीने के लिए जरूरी है। फेरे लगाकर वरण किया जाता है। ये फेरे सात लगते है, जितने कि वैदिक छद होते हैं। इन सात छदो से नए छद को लाया जाता है। मानो एक दीये की लौ से दूसरी लौ जगाई जाती हो। प्राणों से जैसे प्राणों का उदय होता है, वैसे ही छद से नया छद आता है। मडप मे वर-वधू के हाथ आपस मे बांधे जाते हैं।

उसके चेहरे को नाक की सीध से दो हिस्से कर डालिए। अब मुंह के दाएं हिस्से को बाएं हिस्से से मिला कर देखिए, एक-सा नहीं लगता है क्या? आईने में जैसे उलटी छाप पड़ती है, बायां भाग दायां और दायां भाग बायां हो जाता है—उसी तरह मुंह का एक हिस्सा मानो दूसरे के लिए आईने का काम करता है। केवल चेहरा ही क्यों, मनुष्य के सारे शरीर को ही इस तरह दो समान हिस्सों में बांटा जा सकता है।

किसी कागज पर सीधे खड़े आदमी की एक तसवीर बनाइए। बनाकर चित्र को कैंची से काट दीजिए और काट कर उसे बीचों-बीच सीधे ढंग से मोड़िए। पाएंगे कि दोनों के मोड़ मिल जाते हैं।

मनुष्य के शरीर में ऐसा सामंजस्य नही रहता तो वह देखने में कैसा लगता भला! एक आंख अगर दूसरी जैसी नही होती? दो कानों में से एक अगर सूप के समान होता? श्री बिल्कुल नही होती। केवल इतना ही? कवि जैसी उपमा देते हैं, अगर उसी हिसाब से किसी की नाक बांसुरी-जैसी नोकीली हो तो सुन्दर दीखेगी? हर्गिज नही। फिर ट्राम-बस मे वैसी लंबी नाक लेकर किस मुसीबत में पडना होता, सोच देखिए।

छन्द-स्थली

काठ के आसन पर जहा दूल्हा बैठा है, जानते है उसे क्या कहते हैं? मड़वा—मंडप। मंडप का अच्छा-सा नाम है छंद-स्थली।

जो ढंक देता है, ओट देता है, उसी को छद कहते है। मडप का छद फिर क्या हुआ ? दूल्हे के माथे के ऊपर चादनी लगाई जाती है, जिससे दिन का ताप और रात का शीत न लग सके। सर बचाने की जहा गु जाइश है, वह चादनी ही छद है। सिर के ऊपर का भाग खुला न रहे, इसलिए छन या छद से उसे बांधा जाता है। जो बिखरा हुआ है, बेतरतीब है, छद उसे बांधता है। मडप मे रहती है श्री और उसे घेरे रहता है छद।

छन्द का जागना

छद की शक्ति को उकसाकर जगाया जाता है। उसे उकसाने का मतलब है मगल-सूत्र बाधना।

गर्ज यह कि श्री के समान छद भी मगल ही के लिए है। इसीलिए हम लोगो मे छद की इतनी पूछ है।

जरा मडप मे चलकर देखे, छद को जगाया किस तरह जाता है। छद का मतलब जब ढक देना या ओट कर देना है, तो वर के *मानी भी जरूर ही छद होगा। क्योंकि 'वर' मे भी* ढकने, ओट देने का तात्पर्य निकलना है। उस सोये छद को मडप मे वरण माला के आघात से, जीवन की आंच से वाणी की झकार से हिला-डुलाकर जगाया जाता है। वरण-माला में वही चीजे रहती है, जो जीने के लिए जरूरी है। फेरे लगाकर वरण किया जाता है। ये फेरे सात लगते है, जितने कि वैदिक छद होते है। इन सात छदो से नए छद को लाया जाता है। मानो एक दीये की लौ से दूसरी लौ जगाई जाती हो। प्राणो मे जैसे प्राणो का उदय होता है, वैसे ही छद से नया छद आता है। मडप मे वर-वधू के हाथ आसन मे बांधे जाते हैं।

छन्द और चंदन

ये कन्या के माथे पर सफेद धब्बे क्या पड़े हैं ? ये हैं चंदन के निशान। चंदन से उसे ब्याह के लिए सजाया गया है। चंदन की खुशबू भी अच्छी होती है, फबता भी खूब है । छोटे-बच्चों की फुन्सियो पर भी बहुत-से लोग चदन का लेप लगाते हैं। चदन 'चद' से बना है। छंद के मूल में भी चंद है । चंद यानी आनद देना। जो आनंद भी देता है, वही चंद्र है, चंदन है, छंद है। जो काम आता है, वही आनद भी देता है । इसके मानी यह हैं कि काम में ही आनंद है। आंखों में काजल आंजने से शोभा बढ़ती है, आंखें भी ठीक रहती है । चमड़े और नाखून की शोभा रंग बढाता है, रंग से चमड़ा और नाखून फटते भी नहीं।

आदिकाल मे भी लोग बदन में रंग मलते थे। रग का दूसरा नाम है वर्ण। यह वर्ण 'वर' से निकला है । सूरज की तीखी आंच न लगे या बदन पर कीड़े-मकोड़े न बैठें, उस ज़माने के लोग इसीलिए रग से चमड़े को पोत दिया करते थे । वर्ण कहने से राख-भस्म, कादो-माटी, पेड़-पौधों का रस या जीव-जंतु की चर्बी समझा जाता था। पहचान के लिए भी ये चीजें काम में लाई जाती थी। जैसे, सिंदूर अहिवात का चिन्ह है।

किसी ज़माने में जो चीजें निहायत व्यवहार की थी, धीरे-धीरे वे महज़ बहार की चीजें बन गई, औरतों के हाथों-हाथ इसके सबूत मिलते हैं। दुलहिन के हाथ का जैसे सोने का कंगना। हाथ का कंगन ही क्यों, पांवो में चांदी की छड़ें भी हैं, जिसे किंकणी भी कहते हैं।

गहने-बाजे

आदिम युग में हाथ-पांव के ये गहने बखूबी काम भी आया करते थे। शब्दों के ताल पर पांव मिलाने की सुविधा होती थी। लेकिन उस युग में सोने का गहना कोई नहीं पहनता था। तब लोहे या किसी दूसरे धातु के गहने बनते थे। उससे भी पहले हड्डियों के गहने या कौड़ियों का रिवाज था। हाथ-पांव हिलाते ही खुट-खाट शब्द होता था। शब्द के ताल पर चलने-फिरने, काम करने को सहूलियत होती थी। नाचने में घुंघरू की जरूरत पड़ती है। दौड़कर जो हरकारा दूर-दूर चिट्ठियां ले जाता है, उसे भी झुमझुमे की जरूरत होती है पुराण में घटाकर्ण की कहानी है। शायद यह तो ठीक न भी हो कि कान से घंटा लगा रहता है। हो सकता है कुछ इस तरह से घंटा बंधा रहता हो ताकि कानों तक आवाज पहुंच सके। जैसे, गाय, बकरी के गले में घंटी बांध दी जाती है। उन्हें चलने में सुविधा होती है, पहचानने में भी। किसी समय गहने छंद का काम करते थे। औरतों के हाथों की चूड़ियां आज भी शायद उसी की यादगार है।

यह एक जमींदार की स्त्री हाथी की चाल से चली आ रही है। सिर से पांव तक सोने के गहनों से लदी है। समझना मुश्किल है कि उसने गहने पहने है या गहनों की गठरी ढोती फिर रही है। दरअसल जमींदार साहब जो हैं, वे अपनी बीवी से अपना विज्ञापन करा रहे हैं। अपनी बीवी को बेशुमार गहने पहनाकर वे लोगों को बताए दे रहे है कि उनके बेहिसाब रुपए है। या उन्होंने बैंकों में रकम जमा न करके बीवी के बदन पर ही लगा रखी है। यह भी मांधाता के समय का एक रिवाज है।

जो हाथ निकम्मे रहते है, काम नहीं करते, उनमें चूड़ियां बेसुरी बजती हैं। चूड़ियां ऐसी जगह स्वच्छंदता नही लाती बोझ बन जाती हैं; जहा रुपए की गरमी का दिखावा होता है, वहां वे हाथ-पांव की बेड़ियां बन जाती हैं, एक दिखावे का ढंग भर हो जाती है।

अपनी भाषा मे हम इसे ढोंग कहते हैं लेकिन कभी यह ढोंग बडे काम का था, यह तब का एक हिसाब से युद्ध का हथियार था। उसकी जरूरत भी खत्म हुई और यह चीज़ ही बेकार बन बैठी। एकबारगी ढोंग।

गहनों का अच्छा नाम अलकार है। जो 'अलम् कर' है उसीको अलकार कहते है। अलम् के दो अर्थ है। एक अर्थ त है, जरूरत मिटाना और दूसरा है जरूरत न रहना। पह शायद पहला ही अर्थ रहा हो। दूसरा अर्थ बाद में आया है 'आभरण' शब्द मे भी अर्थ बदलने का एक ऐसा ही इतिहा छिपा हुआ है। सपूर्ण रूप से भर देता है, इसीलिए उ 'आभरण' कहते है। लेकिन यह आभरण जब जरूरत से ज्या हो उठता है, तो वह निरर्थक, फिजूल, फालतू बन जाता है।

काम चुक गया

बातों-बातों मे हम कहा करते है,

काम करे सो काजी
काम नही तो पाजी।

बात सत्य है। जो काम में आता है, उसी की कद्र होती है। दरकार रहने पर ही किसी चीज़ की दर होती है। और जिसकी कीमत है, वही सुन्दर है। दर के मानी है मांग। मांग

होती है, जभी दर होती है। जिसे चाहते हैं, सुन्दर वही है। चाहते हैं, इसीलिए सुन्दर है।]

क्या कहा ? सुन नहीं सके ? इतना शोर-गुल है कि दो घड़ी खड़े-खड़े बात भी नहीं कर सकते यहां। मगर यह तो देखिए, यहां लोग खुश कितने हैं। इस भीड़-भड़भड़ और हो-हल्ला में व्याह का घर जमजमा उठा है। मगर व्याह खत्म हो जाने पर भी अगर यहां ऐसी ही भीड़ हो, ऐसा ही शोरगुल रहे, तब ? सब घरवाले डंडा लेकर खेदेंगे। क्योंकि तब वे एकांत पसंद करेंगे।]

अरे, यह तो बिजली चमक रही है। शायद अभी ही जोरों की बारिश होगी। तब तो गए। मंडप बह जाएगा, शादी की रौनक जाती रहेगी। लेकिन जो चाहे कहिए, बारिश होने से बेचारे किसान जी जाएंगे। सूखे से धान की फसल मारी जा रही है। मतलब यह कि अभी बारिश हो, तो जिसके घर व्याह है, उन्हें बुरा लगेगा, लेकिन गांव के लोग मारे खुशी के नाच उठेंगे। एक ही चीज स्थान, काल और पात्र के भेद से सुन्दर या असुन्दर होती है।

सौन्दर्य वस्तु में रहता है

कई ऐसे लोग हैं, जो कहते हैं, सौंदर्य चीज ही और है, धर-पकड़ में नहीं आता। किसी वस्तु से उसका संबंध नहीं होता। उनके पास सौंदर्य को नापने की अपनी एक खास माप है। हर कुछ को वे उसी नाप से नाप कर सुन्दर बनाना चाहते हैं। उनकी नजर में वह माप ही सौंदर्य है।

ग्रीक पुराण में डाकुओं की एक कहानी आती है। उनके पास नापी-जोखी एक मेज थी। किसी को पकड़ लाया जाता

ग्रौर उस मेज पर गुनाहगार देखा जाता कि यह उसमें
पड़ता है, तो ठोक-पीटकर उसे लम्बा बनाया जाता, ग्रौर कहीं
उसकी टाग बड़ी हुई होती तो उसे कुल्हाड़ी से काट डाला
जाता।

वस्तु को छोड़कर सौंदर्य नहीं रहता। मिट्टी का
सुंदर-सा खिलौना ग्रगर टूट जाए, तो उसमें सौंदर्य कहां र
है? श्री ग्रौर छंद वस्तु में ही होता है। वस्तु का भाव
रूप-रस-शब्द-स्पर्श-गंध है। मिट्टी का ढक्कन गिरकर
टूट जाए, तो उसकी गोलाई जाती रहती है। पत्थर के बर्तन
पत्थर से ही बनते हैं। सोने का कटोरा पत्थर का नहीं होता।
ठीक इसी तरह कटहल की ग्रमचूर ग्राम की खटाई नहीं
होती। जिसने कभी दूध नहीं पिया, वह दूध का स्वाद कैसे
जाने। मठे मे दूध का स्वाद हर्गिज नहीं होता। ढोल न रहे
तो ढोल बजाना कैसे मुमकिन हो सकता है? ग्रापके हाथो ढोलक
थमाकर कोई इसराज का स्वर सुनना चाहे, तो ग्राप उसे
पागल ही कहेंगे। बगैर फूल के कहीं फूल की खुशबू होती है?
सड़े ग्रंडे में कोई फूल की खुशबू नहीं ढूंढता। कुर्सी से गद्द
निकाल फेंकिए तो मुलायमियत रह जाती है भला? ग्रौर रू
से जो ग्राराम मिलता है, उस ग्राराम को पाने के लिए को
तख्ते पर सिर रखता है?

जानने की बातें . साहित्य

दर, आदर, सुंदर

कहने का मतलब, चीज होने से ही कुछ नही होता। स्थान, काल, पात्र के हिसाब से उसका होना जरूरी है। जहां जैसी जरूरत हो, वहा वैसी चीज़ चाहिए।

'दर' शब्द जहा से निकला है, उसका मूल अर्थ छेद करना, सूराख करना, खोदना है। हिरन को मारना हो, तो उसे तीर से छेदना पड़ेगा, गाय को बांधना हो तो खूटी की जरूरत होगी, और खेती करनी हो, तो खोदना जरूरी है। आखिर क्यों? जीने के लिए। हिरन, गाय और धान ने ही मनुष्य को जिंदा रखा है, इसलिए उनका इतना आदर है।

हिरन का सुन्दर नाम है मृग। मृग कहने से सिर्फ हिरन का ही नही, शिकार करने लायक जितने भी पशु हैं, सबका बोध होना है। जिस ओर होकर जाने से शिकार मिलता है, उसीका नाम मार्ग यानी रास्ता है। शिकार मे जाने के पहले उन्मत्त हो उठना जरूरी है। इसके लिए चाहिए मृदग, मादर। मृग को ढो लाती है, मारने में मदद पहुचाती है, इसीलिए हवा का नाम मृगवाहन या मारुत है। मार डालने के बाद चंचल पशु शांत हो जाते है—मृत हो जाते है। मार्जन के बाद उसे खाने योग्य बनाया जाता है। लक्ष्य, उपाय, आवेग, उपलब्धि, रुचि—सब जीने के लिए 'मर' यानी मारने के काम से ही निकला है।

जरूरत थी, इसीलिए हिरन मनुष्य की आंखों को इतना भाया था। इतना ही नही कि केवल हिरन ही सुंदर हुआ, बल्कि हिरन के साथ जिस-जिस का भी संबंध था, वह सभी सुंदर हो उठा। जहां हिरन अपने को छिपाकर रखता था, वह कहलाया हरित। यह इतना कुछ जो होता है, सब हृदय को

[illegible]

नई आवश्यकता

आज जंगल तो नहीं रह गए हैं, फिर भी हिरन की तसवीर या उसकी कहानी अच्छी क्यों लगती है? उसका यह मतलब नहीं कि जीने के लिए या आज भी हमें शिकार की जरूरत है। हिरन आज कामना का प्रतीक है। हिरन का मांस खाकर जीने की आज हम बात ही नहीं सोचते। फिर भी हिरन को देखकर जीने की इच्छा बढ़ जाती है। आज हमारी जो कमी है, उस कमी को यह तीव्रता से जगा देता है और इस तरह मनुष्य को यह समाज के नए कामों की ओर अग्रसर करता है। हरा रंग, पत्ती मंगल जीवन के प्रतीक बने हैं। पुरानी चीजें प्रतीक बनकर नई जरूरत में लग रही हैं। आज इस नई जरूरत में हिरन नहीं, बल्कि हिरन का भाव लगता है।

सुंदर और मंगल मानो एक ही चीज के दो रुख हैं। एक-दूसरे को पकड़े हुए हैं। जो काने हैं, वे एक ही रुख को देख पाते हैं। कोई महज सुंदर को देखता है तो कोई केवल मंगल को।

जब वे एक ही तरफ को देखते हैं, तो उसका दूसरा रुख दिखाई नही देता। सोचते है, और कोई रुख होता ही नही।

मूल और चोटी

बीज से जब अकुर निकलता है, तब उसके ओर-छोर के बीच के सबध को समझने मे कठिनाई नही होती। लेकिन मूल जब आंखो से ओझल हो जाता है तो ऊपर के डाल-पत्ते ही दिखाई देते हैं। लेकिन चूकि जड मिट्टी से रस खीचती है, इसीलिए पेड जिंदा रहता है। जड के बल पर ही डाल-पत्ते बढ सकते है, पेडों मे फल लग सकते है। ऊपर के डाल-पत्ते भी योही नहीं बैठे रहते। सूरज की रोशनी से, हवा से, खुराक जुटाकर जड तक पहुंचाते हैं, जड को मजबूत बनाते है।

पेड़ की फुनगी की ओर कला और सहित्य रहता है। जड की ओर रहता है जीवन और समाज।

खाने की बुलाहट हुई। आखिर इतनी जल्दी भी क्या पडी है? जरा देर बाद ही जाइए। घोडे की लगाम थामे तो आए नही। सब न सुन लीजिए, तो अधकपाली होगी।

तो अब तक की बातें थोड़े मे दोहरा लें। श्री और छंद कुछ आसमान से टपक नही पडा। ये इसलिए बने कि समाज को इनकी जरूरत थी। मनुष्य ने ही इन्हे बनाया। श्री मे सुन्दर और मगल दोनो है—बहार और व्यवहार। छद से ही श्री आती है। छंद का मतलब है काम। काम से ही सौंदर्य और मंगल की उत्पत्ति है।

काम करना

मनुष्य जो खुद बनाता है, वही शिल्प है। केवल मनुष्य

ही शिल्पी हो सकता है। प्रकृति की बहुतेरी चीजों में सुर है, सामंजस्य है, चित्र है। मगर हम प्रकृति को शिल्पी नहीं कहते हैं। क्योंकि वह तो उसका स्वभाव है। ठीक उसी तरह मधु-माखी जो छत्ता बनाती है, मकड़ी जो जाल बुनती है, उसके लिए हम उन्हें शिल्पी नहीं कहते। वह काम वह स्वभाव के होते करती है। सोच-विचारकर नहीं किया करती। उनकी चाह और काम के बीच कोई भेद नहीं है।

लेकिन मनुष्य जो कुछ गढ़ता है, वह शुरू से ही उसके मन में रहता है। गढ़ने के पहले मनुष्य सोच-विचारकर ठीक कर लेता है। जरा हम यह देख लें कि कोई जुलाहा जब कपड़ा बुनता है, तो क्या होता है। उसे सूत को कपड़े में बदलना पड़ता है। बुनने से पहले वह मन ही मन कपड़े की गढ़न—शक्ल ठीक कर लेता है। वह तय कर लेता है कि अंगोछा या जाल नहीं, कपड़ा बुनेगा। उसका लक्ष्य और उद्देश्य कपड़ा ही बनाना होता है। कपड़ा तैयार होने से उसका वह उद्देश्य पूरा होता है। उसने जो चाहा था, वही हुआ।

उद्देश्य तय पा जाने पर उसमें तन-मन लगा देना पड़ता है। लापरवाही से काम नहीं चलता। कपड़ा तैयार करते-करते अगर जुलाहे को अंगोछे की धुन सवार हो जाए, तो कपड़ा नहीं बन सकता—शिव बनाते बंदर बन जाएगा। काम करते हुए शुरू से अंत तक उद्देश्य का खयाल रखना ही पड़ता है। संपूर्ण कार्य में उद्देश्य को निखारना चाहिए। वह सिर्फ मिहनत से नहीं बनता, मन को भी लगाने की जरूरत है।

काम और छंद

छंद बिना काम नहीं होता। मनुष्य कुछ पाने के लिए ही काम करता है। जिससे कोई फल नहीं मिलता, वह काम नहीं

है। काम करने वाले को यदि मन-मुताबिक फल नही मिलता तो वह काम महज एक हैरानी है। ऐसे काम मे आनंद नही मिलता, काम बोझ बन जाता है।

जिसे छंद कहते हैं, उसमें कई भाव हैं—छोडना, बांधना, आनद। माथे पर की खुली जगह को जब बांध देते है तो वह मंडप, चांदनी बन जाती है। लेकिन छोडकर क्यो बांधा जाता है? फल पाने के लिए। फल अगर अच्छा मिलता है, तो काम आनददायी होता है—छद मन-लायक होता है। गर्ज कि मनुष्य जो काम करता है, वही छद है। छद बाधना, उद्देश्य, आनद—इनमे से किसीको छोडने से छद मे कमी रह जाती है।

छंद मानो लगाम है। घोडा अगर खुला रहे तो उससे काम नही लिया जा सकता। घोडा और कही रह जाए और हम मन ही मन घोडे पर चढते रहे, ऐसा तो नही होता। इसलिए जगली घोड़ों को पकड लाकर उन्हे वश मे करना पडता है। लेकिन पकड़ मंगाकर घोड़े को बाध ही रखे तो भी घोडे पर चढना नही होता। उसे छोडना ही पडता है। छोड-छोडकर बांधना पडता है। न एकबारगी छोडने से काम बनता है, न बिल्कुल बांध रखने से। रस्सी और जजीर से भी काम नही चल सकता लगाम चाहिए।

'क्रिया' से ही आई है कला। काम से ही हुआ शिल्प। करना और कला, काम और शिल्प को पहले यहां एक ही निगाह से देखा जाता था, इसका प्रमाण 'ऐतरेय ब्राह्मण' मे किये गए कला के चौंसठ नाम से ही मिलता है। कुछ एक नाम हम यहा रख रहे हैं—

नृत्य, गीत, वाद्य, नाट्य, कौचुमार (साज-सज्जा या मरम्मत), नेपथ्य, दशन-वसन-रंजन (दांत मे मिस्सी और

बात नहीं है। अगर ऐसा ही होता तो प्रतिमा के बदले उसके ढांचे से ही हम संतुष्ट हो जाते। जीवन में धारणा के बिना चित्र चित्र नहीं होता। चित्र में स्थान बंध जाता है। लेकिन उस स्थान में गति के भाव को खिलाने की जरूरत होती है। उसमें रस रहना जरूरी है। रस के मानी ही गति है।

आंख और कान

घड़ी की टिक्-टिक् आवाज ठीक बंधे ताल पर होती है। लेकिन ठीक बंधे ताल पर होने पर भी उस आवाज को हम सुर नहीं कहा करते। सुर में एकांगी ताल ठोकने की बात नहीं रहती—ताल पर चलना पड़ता है। ताल-ताल पर चलने से उसमें रस आता है।

जिस चीज में प्राण हैं, उसे हम रूप, रस, स्पर्श, गंध, श्रवण के द्वारा पकड़ सकते हैं। पिंड के बिना जैसे जान नहीं रह सकता है, वैसे ही पदार्थ के बिना गति, वस्तु के बिना भाव नहीं रह सकता।

जब हम सुर सुना करते हैं, तब हम आंखों के मूंदे बने रहते हैं, ऐसी बात नहीं है। सुर के विचार में चित्र भी आ उपस्थित होता है। किसी सुर को सुनने के बाद आंखों देखने की कितनी स्मृतियां, कितनी आशाएं हमारे हृदय में जाग पड़ती हैं। इसी तरह जब हम चित्र देखते हैं तो एकदम गूंगे बहरे नहीं बन बैठते। चित्र के आकर्षण से सुर खिंचा आता है। किसी चित्र को देखकर सुर की झंकारों की कितनी स्मृतियां, कितनी आशाएं हममें जाग पड़ती हैं।

जीवन को छोड़ देने से छंद सहज टाट हो उठता है। जीवन का मतलब घोंटे जीना नहीं है, मिल-जुलकर जीना जीवन

होती है, कभी दर होती है। जिसे चाहते हैं, सुन्दर वही है। चाहते हैं, इसीलिए सुन्दर है।]

क्या कहा ? सुन नहीं सके ? इतना शोर-गुल है कि दो घड़ी खड़े-खड़े बात भी नहीं कर सकते यहां। मगर यह तो देखिए, यहाँ लोग खुश कितने हैं। इस भीड़-भब्भड़ और हो-हल्ला से ब्याह का घर जमजमा उठा है। मगर ब्याह खत्म हो जाने पर भी अगर यहां ऐसी ही भीड़ हो, ऐसा ही शोरगुल रहे, तब ? सब घरवाले डंडा लेकर खेदेंगे। क्योंकि तब वे एकांत पसंद करेंगे।]

अरे, यह तो बिजली चमक रही है। शायद अभी ही जोरों की बारिश होगी। तब तो गए। मंडप बह जाएगा, शादी की रौनक जाती रहेगी। लेकिन जो चाहे कहिए, बारिश होने से बेचारे किसान जी जाएंगे। सूखे से धान की फसल मारी जा रही है। मतलब यह कि अभी बारिश हो, तो जिसके घर ब्याह है, उन्हें बुरा लगेगा, लेकिन गांव के लोग मारे खुशी के नाच उठेंगे। एक ही चीज स्थान, काल और पात्र के भेद से सुन्दर या असुन्दर होती है।

सौन्दर्य वस्तु में रहता है

कई ऐसे लोग हैं, जो कहते हैं, सौंदर्य चीज ही और है, धर-पकड़ मे नहीं आता। किसी वस्तु से उसका संबंध नहीं होता। उनके पास सौंदर्य को नापने की अपनी एक खास माप है। हर कुछ को वे उसी नाप से नाप कर सुन्दर बनाना चाहते हैं। उनकी नजर में वह माप ही सौंदर्य है।

ग्रीक पुराण में डाकुओं की एक कहानी आती है। उनके पास नापी-जोखी एक सेज थी। किसी को पकड़ लाया जाता

जो हाथ निकम्मे रहते हैं, काम नहीं करते, उनमें चूड़ियां बेसुरी बजती है। चूड़ियां ऐसी जगह स्वच्छंदता नहीं लाती बोझ बन जाती हैं; जहां रुपए की गरमी का दिखावा होता है, वहां वे हाथ-पांव की बेड़ियां बन जाती हैं, एक दिखावे का ढंग भर हो जाती हैं।

अपनी भाषा में हम इसे ढोंग कहते हैं लेकिन कभी यह ढोंग बड़े काम का था, यह तब का एक हिसाब से युद्ध का हथियार था। उसकी जरूरत भी खत्म हुई और यह चीज ही बेकार बन बैठी। एकबारगी ढोंग।

गहनों का अच्छा नाम अलंकार है। जो 'अलम् कर' है, उसीको अलंकार कहते है। अलम् के दो अर्थ है। एक अर्थ तो है, जरूरत मिटाना और दूसरा है जरूरत न रहना। पहले शायद पहला ही अर्थ रहा हो। दूसरा अर्थ बाद मे आया है। 'आभरण' शब्द मे भी अर्थ बदलने का एक ऐसा ही इतिहास छिपा हुआ है। सपूर्ण रूप से भर देता है, इसीलिए उसे 'आभरण' कहते है। लेकिन यह आभरण जब जरूरत से ज्यादा हो उठता है, तो वह निरर्थक, फिजूल, फालतू बन जाता है।

काम चुक गया

बातों-बातों में हम कहा करते है,

> काम करे सो काजी
> काम नही तो पाजी।

बात सत्य है। जो काम में आता है, उसी की कद्र होती है। दरकार रहने पर ही किसी चीज़ की दर होती है। और जिसकी कीमत है, वही सुन्दर है। दर के मानी है मांग। मांग

होती है, जभी दर होती है। जिसे चाहते हैं, सुन्दर वही है। चाहते है, इसीलिए सुन्दर है।

क्या कहा ? सुन नही सके ? इतना शोर-गुल है कि दो घडी खड़े-खड़े बात भी नही कर सकते यहां। मगर यह तो देखिए, यहाँ लोग खुश कितने है। इस भीड़-भब्भड़ और हो-हल्ला से व्याह का घर जमजमा उठा है। मगर व्याह खत्म हो जाने पर भी अगर यहां ऐसी ही भीड हो, ऐसा ही शोरगुल रहे, तब ? सब घरवाले डडा लेकर खेदेंगे। क्योंकि तब वे एकांत पसद करेंगे।

अरे, यह तो बिजली चमक रही है। शायद अभी ही जोरों की बारिश होगी। तब तो गए। मडप बह जाएगा, शादी की रौनक जाती रहेगी। लेकिन जो चाहे कहिए, बारिश होने से बेचारे किसान जी जाएगे। सूखे से धान की फसल मारी जा रही है। मतलब यह कि अभी बारिश हो, तो जिसके घर व्याह है, उन्हें बुरा लगेगा, लेकिन गाँव के लोग मारे खुशी के नाच उठेंगे। एक ही चीज़ स्थान, काल और पात्र के भेद से सुन्दर या असुन्दर होती है।

सौन्दर्य वस्तु में रहता है

कई ऐसे लोग है, जो कहते हैं, सौदर्य चीज़ ही और है, धर-पकड़ मे नही आता। किसी वस्तु से उसका संबध नही होता। उनके पास सौंदर्य को नापने की अपनी एक खास माप है। हर कुछ को वे उसी नाप मे नाप कर सुन्दर बनाना चाहते हैं। उनकी नज़र मे वह माप ही सौंदर्य है।

ग्रीक पुराण मे डाकुओं की एक कहानी आती है। उनके पास नापी-जोखी एक मेज़ थी। किसी को पकड़ लाया जाता

और उस मेज पर सुलाकर देखा जाता कि वह उससे नाटा पड़ता है, तो ठोक-पीटकर उसे लम्बा बनाया जाता, और कहीं उसकी टांग कहीं बड़ी होती तो उसे कुल्हाड़ी से काट डाला जाता।

वस्तु को छोड़कर सौंदर्य नहीं रहता। मिट्टी का एक सुंदर-सा खिलौना अगर टूट जाए तो उसमें सौंदर्य कहां रहता है? श्री और सुंदर वस्तु में ही होता है। वस्तु का भाव ही रूप-रस-शब्द-स्पर्श-गंध है। मिट्टी का ढक्कन गिरकर कहीं टूट जाए, तो उसकी गोलाई जाती रहती है। पत्थर के बर्तन पत्थर से ही बनते हैं। सोने का कटोरा पत्थर का नहीं होता। ठीक इसी तरह पदार्थ को छोड़कर भाव की सचाई नहीं होती। जिसने कभी दूध नहीं पिया, वह दूध का स्वाद कैसे जाने। मठे में दूध का स्वाद हर्गिज नहीं होता। ढोल न रहे तो ढोल बजाना कैसे मुमकिन हो सकता है? आपके हाथों ढोलक थमाकर कोई इसराज का स्वर सुनना चाहे, तो आप उसे

श्रोर उस मेज़ पर सुलाकर देखा जाता कि वह उससे नाटा पड़ता है, तो ठोक-पीटकर उसे लम्बा बनाया जाता, श्रोर कहीं उसकी टांग बढ़ी हुई होती तो उसे कुल्हाड़ी से काट डाला जाता।

वस्तु को छोड़कर सौंदर्य नहीं रहता। मिट्टी का एक सुंदर-सा खिलौना अगर टूट जाए, तो उसमें सौंदर्य कहां रहता है? श्री और छंद वस्तु में ही होता है। वस्तु का भाव ही रूप-रस-शब्द-स्पर्श-गंध है। मिट्टी का ढक्कन गिरकर कहीं टूट जाए, तो उसकी गोलाई जाती रहती है। पत्थर के बर्तन पत्थर से ही बनते है। सोने का कटोरा पत्थर का नहीं होता। ठीक इसी तरह कटहल की अमचूर आम की खटाई नहीं होती। जिसने कभी दूध नहीं पिया, वह दूध का स्वाद कैसे जाने। मठे में दूध का स्वाद हर्गिज़ नहीं होता। ढोल न रहे तो ढोल बजाना कैसे मुमकिन हो सकता है? आपके हाथों ढोलक थमाकर कोई इसराज का स्वर सुनना चाहे, तो आप उसे पागल ही कहेंगे। बगैर फूल के कहीं फूल की खुशबू होती है? सड़े घड़े में कोई फूल की खुशबू नहीं ढूंढ़ता। कुर्सी से गद्दा निकाल फेंकिए तो मुलायमियत रह जाती है भला? मोर रूई से जो आराम मिलता है, उस आराम को पाने के लिए कोई तख्ते पर सिर रखता है?

कहने का मतलब, चीज होने से ही कुछ नहीं होता। स्थान, काल, पात्र के हिसाब से उसका होना जरूरी है। जहां जैसी जरूरत हो, वहा वैसी चीज चाहिए।

'दर' शब्द जहां से निकला है, उसका मूल अर्थ छेद करना, सूराख करना, खोदना है। हिरन को मारना हो, तो उसे तीर से छेदना पड़ेगा, गाय को बांधना हो तो खूटी की जरूरत होगी, और खेती करनी हो, तो खोदना जरूरी है। आखिर क्यों ? जीने के लिए। हिरन, गाय और धान ने ही मनुष्य को जिंदा रखा है, इसलिए उनका इतना आदर है।

हिरन का सुन्दर नाम है मृग। मृग कहने से सिर्फ हिरन का ही नही, शिकार करने लायक जितने भी पशु है, सबका बोध होता है। जिस ओर होकर जाने से शिकार मिलता है, उसीका नाम मार्ग यानी रास्ता है। शिकार मे जाने के पहले उन्मत्त हो उठना जरूरी है। इसके लिए चाहिए मृदग, मांदर। मृग को ढो लाती है, मारने में मदद पहुचाती है, इसीलिए हवा का नाम मृगवाहन या मारुत है। मार डालने के बाद चचल पशु शात हो जाते हैं—मृत हो जाते है। मार्जन के बाद उसे खाने योग्य बनाया जाता है। लक्ष्य, उपाय, आवेग, उपलब्धि, रुचि—सब जीने के लिए 'मर' यानी मारने के काम से ही निकला है।

जरूरत थी, इसीलिए हिरन मनुष्य की आखो को इतना भाया था। इतना ही नही कि केवल हिरन ही सुंदर हुआ, बल्कि हिरन के साथ जिस-जिस का भी सबंध था, वह सभी सुंदर हो उठा। जहां हिरन अपने को छिपाकर रखता था, वह कहलाया हरित। यह इतना कुछ जो होता है, सब हृदय की

जब वे एक ही तरफ को देखते हैं, तो उसका दूसरा रुख दिखाई नही देता। सोचते है, और कोई रुख होता ही नही।

मूल और चोटी

बीज से जब अंकुर निकलता है, तब उसके ओर-छोर के बीच के संबंध को समझने मे कठिनाई नही होती। लेकिन मूल जब आंखो से ओझल हो जाता है तो ऊपर के डाल-पत्ते ही दिखाई देते हैं। लेकिन चूंकि जड मिट्टी से रस खींचती है, इसीलिए पेड़ ज़िंदा रहता है। जड के बल पर ही डाल-पत्ते बढ सकते है, पेड़ो मे फल लग सकते है। ऊपर के डाल-पत्ते भी योंही नही बैठे रहते। सूरज की रोशनी से, हवा से, खुराक जुटाकर जड़ तक पहुंचाते हैं, जड़ को मजबूत बनाते हैं।

पेड़ की फुनगी की ओर कला और साहित्य रहता है। जड़ की ओर रहता है जीवन और समाज।

खाने की बुलाहट हुई। आखिर इतनी जल्दी भी क्या पड़ी है ? जरा देर बाद ही जाइए। घोड़े की लगाम थामे तो आए नही। सब न सुन लीजिए, तो अधकपाली होगी।

तो अब तक की बाते थोड़े मे दोहरा लें। श्री और छंद कुछ आसमान से टपक नही पड़ा। ये इसलिए बने कि समाज को इनकी जरूरत थी। मनुष्य ने ही इन्हें बनाया। श्री मे सुन्दर और मंगल दोनों हैं—बहार और व्यवहार। छंद से ही श्री आती है। छंद का मतलब है काम। काम से ही सौंदर्य और मंगल की उत्पत्ति है।

काम करना

मनुष्य जो ˙ ˙ ˙ ˙ है, वही शिल्प है। केवल मनुष्य

धड़कन को बचाए रखने के लिए। हृत्, हृदय यानी प्राण के लिए ही हरण होता है। हरण का काम ही हर्ष है। 'हर' के साथ ही 'समूह' का संकेत है यानी मिल-जुलकर दल कायम करने का भाव है। अकेले ज़िंदा नहीं, मिलकर ज़िंदा रहना। यही 'हर' शायद खेती-बारी के युग में 'हल' हो गया। जो हिरन था, जितना कुछ हरा था, बाद में क्या वही हल्दी का रंग हो गया? हृत् है हलाद। यह हल्ला क्या दल कायम करने से निकला? 'हर' पहले 'हल' और बाद मे 'कल' हो गया? उसी से क्या देवी-देवताओं और पूजा-त्योहारों का नाम हर, हरि, हारीति, होली पड़ा?

नई आवश्यकता

आज ज़रूरत तो नही रह गई है, फिर भी हिरन की तसवीर या उसकी कहानी भली क्यों लगती है? उसका यह मतलब नही कि जीने के लिए आ आज भी हमे शिकार की ज़रूरत है हिरन आज कामना का प्रतीक है। हिरन का मांस खाकर जीने की आज हम बात ही नही सोचते। फिर भी हिरन को देखकर जीने की इच्छा बढ जाती है। आज हमारी जो कमी है, उस कमी को वह तीव्रता से जगा देता है और इस तरह मनुष्य को वह समाज के नए कामों की ओर अग्रसर करता है। हरा रग, पकी फसल जीवन के प्रतीक बने है। पुरानी चीजें प्रतीक बनकर नई ज़रूरत मे लग रही है। आज इस नई ज़रूरत में हिरन नही, बल्कि हिरन का भाव लगता है।

सुंदर और मगल मानो एक ही चीज के दो रुख हैं। एक-दूसरे को पकड़े हुए हैं। जो काने है, वे एक ही रुख को देख पाते है। कोई महज़ सुदर को देखता है तो कोई केवल मगल को।

जब वे एक ही तरफ को देखते है, तो उसका दूसरा रूप दिखाई नहीं देता। सोचते हैं, और कोई रूप होता ही नही।

मूल और चोटी

बीज से जब अकुर निकलता है, तब उसके ओर-छोर के बीच के सबध को समझने मे कठिनाई नही होती। लेकिन मूल जब आखो से ओझल हो जाता है तो ऊपर के डाल-पत्ते ही दिखाई देते है। लेकिन चूकि जड मिट्टी से रस खींचती है, इसीलिए पेड ज़िदा रहता है। जड़ के बल पर ही डाल-पत्ते बढ़ सकते हैं, पेड़ो में फल लग सकते है। ऊपर के डाल-पत्ते भी योंही नही बैठे रहते। सूरज की रोशनी से, हवा से, खुराक जुटाकर जड़ तक पहुंचाते है, जड़ को मजबूत बनाते है।

पेड की फुनगी की ओर कला और सहित्य रहता है। जड़ की ओर रहता है जीवन और समाज।

खाने की बुलाहट हुई। आखिर इतनी जल्दी भी क्या पड़ी है? ज़रा देर बाद ही जाइए। घोड़े की लगाम थामे तो आए नही। सब न सुन लीजिए, तो अधकपाली होगी।

तो अब तक की बाते थोड़े मे दोहरा ले। श्री और छंद कुछ आसमान से टपक नही पड़ा। ये इसलिए बने कि समाज को इनकी ज़रूरत थी। मनुष्य ने ही इन्हे बनाया। श्री मे सुन्दर और मगल दोनों है—बहार और व्यवहार। छद से ही श्री आती है। छंद का मतलब है काम। काम से ही सौंदर्य और मंगल की उत्पत्ति है।

काम करना

मनुष्य जो खुद बनाता है, वही शिल्प है। केवल मनुष्य

है। काम करने वाले को यदि मन-मुताबिक फल नही मिलता तो वह काम महज एक हैरानी है। ऐसे काम में ग्रानद नही मिलता, काम बोझ बन जाता है।

जिसे छद कहते है, उसमे कई भाव हैं—छोडना, बांधना, ग्रानद। माथे पर की खुली जगह को जब बांध देते हैं तो वह मंडप, चांदनी बन जाती है। लेकिन छोडकर क्यों बांधा जाता है? फल पाने के लिए। फल ग्रगर ग्रच्छा मिलना है, तो काम ग्रानददायी होता है—छ द मन-लायक होता है। गर्ज कि मनुष्य जो काम करता है, वही छ द है। छ द बाधना, उद्देश्य, ग्रानद—इनमें से किसीको छोडने से छद मे कमी रह जाती है।

छ द मानो लगाम है। घोडा ग्रगर खुला रहे तो उनसे काम नही लिया जा सकता। घोडा ग्रोर कही रह जाए ग्रोर हम मन ही मन घोडे पर चढ़ते रहे, ऐसा तो नही होता। इसलिए जगली घोड़ो को पकड लाकर उन्हे वश मे करना पड़ता है। लेकिन पकड़ मगाकर घोडे को बाध ही रखें तो भी घोडे पर चढ़ना नही होता। उसे छोड़ना ही पड़ता है। छोड-छोडकर बाधना पड़ता है। न एकबारगी छोड़ने से काम चलता है, न बिलकुल बाध रखने से। रस्सी ग्रोर जजीर से भी काम नही चल सकता लगाम चाहिए।

'क्रिया' से ही ग्राई है कला। काम से ही हुग्रा शिल्प। करना ग्रोर कला, काम ग्रोर शिल्प को पहले यहा एक ही निगाह से देखा जाता था, इसका इशारा 'ऐतरेय ब्राह्मण' मे किये गए कला के चौसठ नाम से ही मिलता है। कुछ एक नाम हम यहा रख रहे हैं—

नत्य गीत, वाद्य, नाट्य, कौतुकार (नाक-नक्शा या म... ...), दशन-वसन-रंजन (दात में मिस्सी ग्रोर

ही शिल्पी हो सकता है। प्रकृति की बहुतेरी चीजों में सुर है, सामंजस्य है, चित्र है। मगर हम प्रकृति को शिल्पी नहीं कहते हैं। क्योंकि वह तो उसका स्वभाव है। ठीक उसी तरह मधुमाखी जो छत्ता बनाती है, मकड़ी जो जाल बुनती है, उसके लिए हम उन्हे शिल्पी नहीं कहते। वह काम वह स्वभाव के होते करती है। सोच-विचारकर नहीं किया करती। उनकी चाह और काम के बीच कोई भेद नहीं है।

लेकिन मनुष्य जो कुछ गढ़ता है, वह शुरू से ही उसके मन मे रहता है। गढने के पहले मनुष्य सोच-विचारकर ठीक कर लेता है। जरा हम यह देख लें कि कोई जुलाहा जब कपड़ा बुनता है, तो क्या होता है। उसे सूत को कपड़े में बदलना पड़ता है। बुनने से पहले वह मन ही मन कपड़े की गढन—शकल ठीक कर लेता है। वह तय कर लेता है कि अगोछा या जाल नहीं, कपडा बुनेगा। उसका लक्ष्य और उद्देश्य कपड़ा ही बनाना होता है। कपडा तैयार होने से उसका वह उद्देश्य पूरा होता है। उसने जो चाहा था, वही हुआ।

उद्देश्य तय पा जाने पर उसमें तन-मन लगा देना पड़ता है। खामखयाली से काम नहीं चलता। कपड़ा तैयार करते-करते अगर जुलाहे को अगोछे की धुन सवार हो जाए, तो कपड़ा नहीं बन सकता—शिव बनाते बदर बन जाएगा। काम करते हुए शुरू से अंत तक उद्देश्य का खयाल रखना ही पड़ता है। संपूर्ण कार्य में उद्देश्य को निखारना चाहिए। यह सिर्फ मिहनत से नही बनता, मन को भी लगाने की जरूरत है।

काम और छंद

लक्ष्य विना काम नहीं होता। मनुष्य कुछ पाने के लिए ही काम करता है। जिसका कोई फल नही मिलता, वह काम नहीं

ही शिल्पी हो सकता है। प्रकृति की बहुतेरी चीजों में सुर है, सामंजस्य है, चित्र है। मगर हम प्रकृति को शिल्पी नहीं कहते हैं। क्योंकि वह तो उसका स्वभाव है। ठीक उसी तरह मधुमाखी जो छत्ता बनाती है, मकड़ी जो जाल बुनती है, उसके लिए हम उन्हें शिल्पी नहीं कहते। वह काम वह स्वभाव के होते करती है। सोच-विचारकर नहीं किया करती। उनकी चाह और काम के बीच कोई भेद नहीं है।

लेकिन मनुष्य जो कुछ गढ़ता है, वह शुरू से ही उसके मन में रहता है। गढ़ने के पहले मनुष्य सोच-विचारकर ठीक कर लेता है। जरा हम यह देख लें कि कोई जुलाहा जब कपड़ा बुनता है, तो क्या होता है। उसे सूत को कपड़े में बदलना पड़ता है। बुनने से पहले वह मन ही मन कपड़े की गढ़न—शकल ठीक कर लेता है। वह तय कर लेता है कि अंगोछा या जाल नहीं, कपड़ा बुनेगा। उसका लक्ष्य और उद्देश्य कपड़ा ही बनाना होता है। कपड़ा तैयार होने से उसका वह उद्देश्य पूरा होता है। उसने जो चाहा था, वही हुआ।

उद्देश्य तय पा जाने पर उसमें तन-मन लगा देना पड़ता है। खामखयाली से काम नहीं चलता। कपड़ा तैयार करते-करते अगर जुलाहे को अंगोछे की धुन सवार हो जाए, तो कपड़ा नहीं बन सकता—शिव बनाते बंदर बन जाएगा। काम करते हुए शुरू से अंत तक उद्देश्य का खयाल रखना ही पड़ता है। संपूर्ण कार्य में उद्देश्य को निखारना चाहिए। यह सिर्फ मिहनत से नहीं बनता, मन को भी लगाने की जरूरत है।

काम और द्वंद

लक्ष्य बिना काम नहीं होता। मनुष्य कुछ पाने के लिए ही काम करता है। जिसका कोई फल नहीं मिलता, वह काम नहीं

है। काम करने वाले को यदि मन-मुताबिक फल नही मिलता तो वह काम महज एक हैरानी है। ऐसे काम में आनद नही मिलता, काम बोझ बन जाता है।

जिसे छद कहते हैं, उसमें कई भाव हैं—छोडना, बांधना, आनद। माथे पर की खुली जगह को जब बाध देते है तो वह मडप, चांदनी बन जाती है। लेकिन छोडकर क्यो बांधा जाता है ? फल पाने के लिए। फल अगर अच्छा मिलता है, तो काम आनददायी होता है—छ द मन-लायक होता है। गर्ज कि मनुष्य जो काम करता है, वही छ द है। छ द बांधना, उद्देश्य, आनद—इनमे से किसीको छोडने से छद मे कमी रह जाती है।

छंद मानो लगाम है। घोडा अगर खुला रहे तो उससे काम नही लिया जा सकता। घोडा और कही रह जाए और हम मन ही मन घोड़े पर चढते रहे, ऐसा तो नही होता। इसलिए जगली घोड़ों को पकड लाकर उन्हे वश मे करना पडता है। लेकिन पकड़ मंगाकर घोडे को बाध ही रखे तो भी घोड़े पर चढना नही होता। उसे छोडना ही पडता है। छोड-छोडकर बाधना पड़ता है। न एकबारगी छोडने से काम बनता है, न बिल्कुल बाध रखने से। रस्सी और जजीर से भी काम नही चल सकता लगाम चाहिए।

'क्रिया' से ही आई है कला। काम से ही हुआ शिल्प। करना और कला, काम और शिल्प को पहले यहां एक ही निगाह से देखा जाता था, इसका प्रमाण 'ऐतरेय ब्राह्मण' मे किये गए कला के चौसठ नाम से ही मिलता है। कुछ एक नाम हम यहा रख रहे है—

नृत्य, गीत, वाद्य, नाट्य, कोचुमार (साज-सज्जा या मरम्मत), नेपथ्य, दशन-वसन-रंजन (दांत में मिस्सी और

ही शिल्पी हो सकता है। प्रकृति की बहुतेरी चीजों में सुर है, सामजस्य है, चित्र है। मगर हम प्रकृति को शिल्पी नही कहते हैं। क्योंकि वह तो उसका स्वभाव है। ठीक उसी तरह मधु-माखी जो छत्ता बनाती है, मकडी जो जाल बुनती है, उसके लिए हम उन्हें शिल्पी नही कहते। वह काम वह स्वभाव के होते करती है। सोच-विचारकर नही किया करती। उनकी चाह और काम के बीच कोई भेद नहीं है।

लेकिन मनुष्य जो कुछ गढता है, वह शुरू से ही उसके मन मे रहता है। गढने के पहले मनुष्य सोच-विचारकर ठीक कर लेता है। जरा हम यह देख ले कि कोई जुलाहा जब कपड़ा बुनता है, तो क्या होता है। उसे सूत को कपड़े में बदलना पड़ता है। बुनने से पहले वह मन ही मन कपड़े की गढन—शकल ठीक कर लेता है। वह तय कर लेता है कि अंगोछा या जाल नहीं, कपड़ा बुनेगा। उसका लक्ष्य और उद्देश्य कपडा ही बनाना होता है। कपडा तैयार होने से उसका वह उद्देश्य पूरा होता है। उसने जो चाहा था, वही हुआ।

उद्देश्य तय पा जाने पर उसमें तन-मन लगा देना पड़ता है। लापरवाही से काम नहीं चलता। कपड़ा तैयार करते-करते अगर जुलाहे को अगोछे की धुन सवार हो जाए, तो कपडा नही बन सकता—शिव बनाते बंदर बन जाएगा। काम करते हुए शुरू से अंत तक उद्देश्य का खयाल रखना ही पड़ता है। संपूर्ण कार्य में उद्देश्य को निखारना चाहिए। यह सिर्फ मिहनत से नही बनता, मन को भी लगाने की जरूरत है।

काम और द्वंद

लक्ष्य बिना काम नही होता। मनुष्य कुछ पाने के लिए ही काम करता है। जिसका कोई फल नहीं

बात नही है। अगर ऐसा ही होता तो प्रतिमा के बदले उसके ढाचे से ही हम संतुष्ट हो जाते। जीवन में धारणा के बिना चित्र चित्र नही होता। चित्र मे स्थान बध जाता है। लेकिन उस स्थान में गति के भाव को खिलाने की जरूरत होती है। उसमे रस रहना जरूरी है। रस के मानी ही गति है।

आंख और कान

घडी की टिक्-टिक् आवाज ठीक बधे ताल पर होती है। लेकिन ठीक बधे ताल पर होने पर भी उस आवाज को हम सुर नही कहा करते। सुर मे एकांगी ताल ठोकने की बात नही रहती—ताल पर चलना पडता है। ताल-ताल पर चलने से उसमे रस आता है।

जिस चीज मे प्राण हैं, उसे हम रूप, रस, स्पर्श, गध, श्रवण के द्वारा पकड सकते है। धड के बिना जैसे जान नही रह सकता है, वैसे ही पदार्थ के बिना गति, वस्तु के बिना भाव नही रह सकता।

जब हम सुर सुना करते हैं, तब हम आंखो के अधे बने रहते हैं, ऐसी बात नही है। सुर के खिचाव से चित्र भी आ उपस्थित होता है। किसी सुर को सुनने के बाद आखो देखने की कितनी स्मृतिया, कितनी आशाए हमारे हृदय मे जाग पडती हैं। इसी तरह जब हम चित्र देखते है तो एकबारगी बहरे नहीं बन बैठते। चित्र के आकर्षण से सुर खिचा आता है। किसी चित्र को देखकर सुर की झंकारो की कितनी स्मृतिया, कितनी आशाए हममे जाग पड़ती हैं।

जीवन को छोड़ देने से छंद महज ठाठ हो उठता है। जीवन का मतलब अकेले जीना नही है, मिल-जुलकर जीना जीवन

है। दूसरे-दूसरे जीवों का जीवन अकेले जीना है। आदमी का जीवन है जीवन से जीवन का मिलना—दल बनाकर जीना। इसीलिए मनुष्य के छंद में केवल जीवन का ही रस नहीं रहता, सामाजिक रस रहता है।

सात वैदिक छंदों में उसी का परिचय पाया जाता है। प्रत्येक छंद का जो नाम है, उसी नाम में ही जीवित रहने का आयोजन है, साथ ही मिल-जुलकर जीने के भाव को भांपना कठिन नहीं है।

वैदिक छंद सात हैं। गायत्री, बृहती, जगती, उष्णिक्, पंक्ति, त्रिष्टुप, अनुष्टुप। इन सबके पीछे उत्पादन-संबंधी यानी जीने से संबंध रखने वाला कोई-न-कोई सामाजिक कार्य न हो, यह हो ही नहीं सकता। इसमें से कोई भी अचानक आसमान से नहीं टपक पड़ा है।

क्या कहा आपने? जमीन फोड़कर निकला क्यों? इनमें से कोई-कोई मुंहफोड़ भी हो सकता है। जैसे, बृहती। यह एक तरह का अनाज है। जितने भी पेड़-पौधे हैं, सब तो मुंह-फोड़ ही हैं। खेत की मेड़ को पंक्ति कहते हैं। उष्णिक् रबी है क्या? और त्रिष्टुप का धान काटना है? जगती का मतलब है गाय-गोरू। गायत्री प्राण बचाने का मंत्र है। अनुष्टुप सबके बाद आया है। अनुष्टुप को उस समय का तरुणतम कहा गया है। तरुणतम यानी आधुनिक।

आधुनिक

पुरानपंथी लोग शुरू में आधुनिक की राह में रोड़े डालते हैं—बदनामी रटाते हैं। इसीलिए अनुष्टुप छंद के वक्त यह [illegible] आई थी। लेकिन वैदिक युग के बाद अनुष्टुप छंद

सोच लें, हम आंगन पार करके आसन पर जा बैठे। आसन पर बैठना हुआ हमारा अभिप्राय, उद्देश्य, यानी छंद।

ऊंहूं, आसन तो मिला नहीं। हमारा उद्देश्य पूरा नहीं हो सका। इसका मतलब यह हुआ कि अभिप्राय से भी छंद नहीं होता केवल उद्देश्य ही छंद नहीं है।

आसन तक पहुंचने के लिए आंगन में उतरना पड़ेगा। खैर, आंगन में रखा पांव। मिट्टी में पांव रोपा, यह पांव रोपना ही छंद हुआ। मगर कहां ? आसन तो नहीं मिलता। तो फिर केवल उद्देश्य और वचन होने से ही छंद नहीं होता।

मिट्टी में महज पांव गाड़ने से काम नहीं चलने का, पांव को चलाकर कहीं रोपने से छंद होगा। खर, वही सही। लेकिन यह क्या ? जहां हम थे, वहीं-के-वहीं खड़े ताल ठोंक रहे हैं।

अरे, रे, आप बिगड़ क्यों उठे! सोच रहे होंगे, मुझे शायद भूख नहीं लगी है। मैं छंद से खिलवाड़ कर रहा हूं। अरे भाई, रुकिए तो सही, मैं भी साथ चलता हूं।

इसीको कहते हैं खिंचाव। उद्देश्य अगर बोझ के बजाए प्राणों का आकर्षण हो, तो खड़े-खड़े ताल ठोंकते रहना नहीं बन सकता। फिर तो उद्देश्य तक जाना ही पड़ेगा और तब उस जाने में आनंद मिलेगा। तभी छंद होगा।

खुशी-खुशी लक्ष्य की ओर बढ़ना ही छंद है।

अच्छा चलते-चलाते रोहित की कहानी सुना दूं।

बहुत-बहुत पहले लोगों की एक जमात थी। उनका पेशा [illegible] पालना था। रो[illegible] ऐसी ही एक जमात का आदमी [illegible] का मतलब [illegible] पिता का [illegible]

लाल घोड़ा होता है। हरि के माने भी घोड़ा है। शायद सारी जमात ही अपना परिचय घोड़ा कहकर देती थी।

ब्राह्मण बने इन्द्र ने रोहित को बार-बार यही नसीहत दी थी—काम में ही मगल बसता है, सौन्दर्य रहता है। जो काम करता है, वही श्रेष्ठ है। काम से ही सुख मिलता है। इसलिए काम करो। जो काम करता है उसका शरीर और मन, दोनों बढ़ते हैं। मिहनत सारी कमियां दूर किए देती है। इसलिए काम करो। काम करने से मधु, मीठे फल मिलते हैं। देखो, सूरज की रोशनी सदा चलती है, कभी नहीं सोती। इसलिए काम करो, काम करो।

इन्द्र ने लेकिन पहले ही कहा था, काम की यह महत्ता उनकी सुनी हुई है। इससे यह पता चलता है कि इंद्र स्वयं परिश्रम नहीं करते थे। बहुत सभव है, वे उस जमाने के एक दास-प्रभु थे। खुद मिहनत करने के बजाय गुलामों से मिहनत कराके वे अपार सपत्ति के मालिक बन बैठे थे। रोहिताश्व को पाने के लिए वे बहुत दिनों से सत्तू बांधकर पीछे पड़े थे, जैसा कि चाय बगीचे के कुली और लड़ाई के सिपाही के लिए दलाल तरह-तरह से फुसलाते हैं। यह भी शायद वैसा ही था।

इन्द्र ने कहा था, चरैवेति, चरैवेति—काम करो, काम करो। लेकिन जो काम करेगा, वह अपनी मिहनत का पूरा फल पाएगा या नहीं, इस पर उन्होंने खास कुछ नहीं कहा। दर-असल अगर काम का फल करने वालों को मिलता तो इन्द्र का वैसा महल बनकर खड़ा नहीं होता।

बात चाहे अच्छी ही हो, पर वह किस के लाभ के लिए कही गई है, यही देख लेना जरूरी है। आज जब कुछ लोग स्वयं आराम करते हुए देश के बाकी लोगों की गर्दन तोड़ने के लिए

उपदेश दिया करते हैं, तो वह सत्य नही जंचता. जाली हो जाता है। उसमें छन्द नही फन्द है।

नकल से नाच

र मे रोना-धोना जारी है। महज एक दिन के बुखार में ा चल बसा।

ऐसे मे दरवाजे पर हाजिर हुआ एक ओझा—जादूगर। उर मामला क्या है ? वह मरे लडके की तसवीर बना या है। लडके को वह चीन्हता था भला ? चीन्हना तो दूर ा, कभी उसने लडके की शक्ल भी नही देखी। फिर ? क्या, मने अपने मन से बनाई है तसवीर।

मगर बनाया क्या है उसने ? हा, मुंह तो आदमी का ही बनाया है, पर उस लडके के मुंह से जरा भी नही मिलता।

चेहरा भी चेहरे जैसा होता, तो बात थी। इसने आखिर नहं बनाया क्या ? नाक है, कान है, मुंह है, मगर आखें कहा ? आख गुमा कर क्या साफ बनाया है।

न नर आप उसे जितना बेवकूफ समझ रहे है, वह उतना नहीं है नहीं—जरा पूछिए तो उसने जानकर ही आंखें नहीं

ओझाजी ही जानते हैं। अगर वह चित्र में आंख बना दे, तो परलोक में बेचारे लडके को आंख मिल जाएगी।

मगर कहने से ही तो ओझाजी बना नही देंगे। इसके लिए नकद दक्षिणा चाहिए।

शायद आप कह रहे होंगे, उस मरे लडके को न देकर पहले ओझाजी अपनी आंख खोल लें। क्योंकि आंखें होते हुए भी वे अंधे है। ऐसा नही होता तो ऐसी अजीबोगरीब बात पर वे यकीन कर सकते थे ?

जादूघर में जन्म

बात बिलकुल ठीक है। लेकिन अगर मनुष्य के इतिहास की छानबीन करें तो पाएंगे कि जिस बात ने आज मनुष्य की आंखें बंद कर दी है, कभी उसीने आंखें खोली थी। वह बात कौन-सी है ? जादू।

आदिम काल के लोगों के लिए यह इतनी बडी दुनिया एक जादूघर ही थी। जादूघर से आज हम उस जगह को समझते है, जहां मरी हुई चीज़ों की ठठरियां पडी है। पुरानी चीज़ें पड़ी हैं। ऐसी चीज़ें, जिनकी आयु बहुत पहले खत्म हो चुकी है, जो मर चुकी है।

लेकिन ऐसा भी दिन था जब जादू से मरे के बजाय ज़िंदे का बोध होता था। जादू का मतलब जान खोना नहीं, जान पाना है। आंखें बंद करना नही, आंखें खोलना है।

आसमान मे मेघ गरज उठे—गड-गड-गड-गड। यह आवाज़ वज्र की है। आवाज़ के बाद पानी। पहले वज्र फिर बारिश। बारबार यही देखते-देखते आदिम मनुष्य के मन में कार्य-कारण स्वरूप यह बात जग गई। उसने वज्र और वृष्टि में एक मेल

उपदेश दिया करते हैं, तो वह सत्य नहीं जंचता, जाली हो जाता है। उसमें छन्द नहीं फन्द है।

नकल से नाच

घर में रोना-धोना जारी है। महज़ एक दिन के बुखार में लड़का चल बसा।

ऐसे में दरवाज़े पर हाजिर हुआ एक ओझा—जादूगर। आखिर मामला क्या है? वह मरे लडके की तसवीर बना लाया है। लडके को वह चीन्हता था भला? चीन्हना तो दूर रहा, कभी उसने लडके की शक्ल भी नही देखी। फिर? क्या, उसने अपने मन से बनाई है तसवीर।

मगर बनाया क्या है उसने? हां, मुंह तो आदमी का ही बनाया है, पर उस लड़के के मुंह से ज़रा भी नही मिलता।

चेहरा भी चेहरे जैसा होता, तो बात थी। इसने आखिर यह बनाया क्या? नाक है, कान है, मुंह है, मगर आंखे कहां गई? आंख गुमा कर क्या खाक बनाया है!

मगर आप उसे जितना बेवकूफ समझ रहे है, वह उतना बेवकूफ है नही। सच पूछिए तो उसने जानकर ही आंखे नहीं बनाई है।

आंखे नही रहने से वह मरा हुआ लड़का परलोक में भटक-भटक कर मर रहा है। गृहस्थ को ओझा यही बताने के लिए वैसा चित्र बना लाया है। लेकिन इसका उपाय? इसका उपाय

ओझाजी ही जानते हैं। अगर वह चित्र मे आख बना दे, तो परलोक मे बेचारे लडके को आंख मिल जाएगी।

मगर कहने से ही तो ओझाजी बना नही देंगे। इसके लिए नकद दक्षिणा चाहिए।

शायद आप कह रहे होंगे, उस मरे लडके को न देकर पहले ओझाजी अपनी आख खोल ले। क्योंकि आंखे होते हुए भी वे अधे हैं। ऐसा नही होता तो ऐसी अजीबोगरीब बात पर वे यकीन कर सकते थे ?

जादूघर में जन्म

बात बिलकुल ठीक है। लेकिन अगर मनुष्य के इतिहास की छानबीन करे तो पाएगे कि जिस बात ने आज मनुष्य की आखे बद कर दी है, कभी उसीने आखे खोली थी। वह बात कौन-सी है ? जादू।

आदिम काल के लोगों के लिए यह इतनी बडी दुनिया एक जादूघर ही थी। जादूघर से आज हम उस जगह को समझते है, जहा मरी हुई चीजो की ठठरिया पडी है। पुरानी चीजे पड़ी हैं। ऐसी चीजे, जिनकी आयु बहुत पहले खत्म हो चुकी है, जो मर चुकी हैं।

लेकिन ऐसा भी दिन था जब जादू से मरे के बजाय जिंदे का बोध होता था। जादू का मतलब जान खोना नही, जान पाना है। आखे बद करना नही, आखे खोलना है।

आसमान मे मेघ गरज उठे—गड-गड-गड-गड। यह आवाज वज्र की है। आवाज के बाद पानी। पहले वज्र फिर बारिश। बारंबार यही देखते-देखते आदिम मनुष्य के मन मे कार्य-कारण स्वरूप यह बात जग गई। उसने वज्र और वृष्टि मे एक मेल

का पता पाया। कान खीचने से जैसे सिर खिंच ग्राता है, वैसे ही वज्र को पकडते ही बारिश ग्राती है। वज्र को पकड़ने का फंदा है बाजा और उसी की हिकमत है बाजी या जादू।

ग्राज हम इन सारी बातों को हंसकर उड़ा दे सकते है। क्योंकि हमे पता है कि ग्रावाज़ की नकल करके बारिश नही बुलाई जा सकती।

मगर उस युग के लिए इतना ही ग्रंदाज़ करना कम बात नही थी कि मेघ से ही बारिश ग्राती है। ग्राज हम यह सोच भी नहीं सकते कि दो चीजों का संबंध खोज निकालना उस युग के लिए कितना बड़ा ग्राविष्कार था। केवल जान भर लेना नही, उस नियम को कागज-कलम से उतारने की कोशिश भी। और प्रकृति को जानना ही नही, उसे बदलने की चेष्टा। और प्रकृति को बदलने की कोशिश से खुद को बदलना। थोड़े मे कहे, ठोकर खाकर सीखना।

ग्रादिकाल में नकल करके प्रकृति पर दखल करने का नाम ही जादू था। नकल या जाल करना ही इन्द्रजाल कहलाता था।

मनुष्य के उस ग्रादिम जादूघर में बाजी, नकल, मजा, तमाशा, जाल, माया, कुछ का भी मतलब मिथ्या नही था। हाथ जोड़कर पाने की चाह नही, चाह के फल के लिए हाथ लगाने की बात। कामना को काम-काज में रूप देना, समांग को लगाना। इसी का नाम था जादू।

बदन-हाथ हिलाने के मानी बदन हाथ को नचाना। हाथ बांधे बैठे रहना नही, काम करना। मरना नही, ज़िदा रहना। रुकना नही, चलना।

हिलने का अर्थ मानो नाचना। कामों में नाच का छंद मनुष्य की नज़रों से छिपा नहीं रहा। वह जादूघर एक जुदा ही चीज था। उसीमें पैदा हुआ था नाच, गान, चित्र, धर्म और विज्ञान।

व्रत और यज्ञ

व्रत और यज्ञ ही उस आदिम काल का जादूघर था। ये व्रत और यज्ञ चल पड़े थे कामना के साथ क्रिया-कर्म का योग करने से। महज पाने की इच्छा नहीं, उसके लिए जैसी चाहिए, वैसी चेष्टा करना। चाहना अकेले की नहीं, सब की होती है। चेष्टा भी अकेले की नहीं, मिल-जुलकर।

उस समय समाज में बाट-बटवारा नहीं हुआ था। जो कुछ भी होना था, सबके लिए होना था, सबकी कोशिश से होता था। *सब मेहनत करेंगे, सब कोई खाएंगे।* *खाना जुटाना* उस समय सबसे कठिन काम था। सभी कोई कधा न भिड़ाए तो जीने योग्य खाना नहीं जुटता था।

नाच का जो मतलब हम आज समझते है, उस समय उसका वह मतलब नहीं था। समाज में जिसको मेहनत करने की जुर्रत थी, वही नाच मे शामिल होता था। शिकार करना, लड़ाई लड़ना, गाय चराना, अनाज उपजाना जैसे समाज मे सब का काम था, वैसे ही नाच एक सामाजिक काम था—मिल्लत का, साझे का काम। कोई नाचेगा, कोई देखेगा, नाचने और देखने वाले का यह भेद तब नहीं था।

व्रत और यज्ञ में तब पुरोहित और यजमान का फर्क नहीं था। क्योंकि उस समय व्रत और यज्ञ कहने से पूजा-अर्चा का मतलब नहीं होता था। लोग व्रत और यज्ञ की जगह जमा होकर किसी विशेष कामना को गीत-नाच मे रूप दिया करते

। देवी-देवता, भजन-पूजन की पूछ-तास उस समय नही थी, ये व तो उपसर्ग की तरह बाद मे आ उपस्थित हुए।

असल की नकल

नाचने का मतलब है शरीर की भगियो से किसी-न-किसी भाव को रूप देना। यो समझिए, हाथ मे तीर-कमान नही है। फिर भी खाली हाथों तीर मारने की नकल की जा सकती है। नकल करके असली बात बताई जा सकती है।

यह नकल करने की जरूरत क्यों आ पडी ? जो बातें गुज़र चुकी हों, उन्हें याद रखने के लिए। याद-दाश्त को ताजा करने के लिए।

इस के सिवाय और कोई जरूरत नही है इसकी ? है। जो बात नही हुई है, उसे करने के लिए। बीती बातो का छोर पकड़-कर भविष्यत की नई आशाए आती है।

आदिम लोग जमात बाधकर शिकार को निकले। शौक से नही निकले, निकले भूख के सताए, जीने के तकाज़े से। तमाम दिन जगल की खाक छानते रहे, शिकार हाथ नही आया। दो दिन के बाद एक बहुत बडा शिकार मिला। शिकार मारकर लोग ले आए। आग जलाकर उसके चारो ओर लोग मौज से नाचने लगे। इस नाच में उन्होंने इस बात की नकल उतारी कि जमात ने किस तरह हिरनों के गिरोह पर धावा किया और शिकार किया। उस समय वे नकली शिकारी बन गए। इस नकल के लिए हिरन भी तो चाहिए। सो जमात का ही कोई व्यक्ति माथे पर सीग बांधकर हिरन बन गया।

मगर स्थान और समय कम है,
पूरी-पूरी नकल उत... में मेहनत

सारा मज़ा ही किरकिरा हो जाएगा । इसलिए कांट-छांटकर, चुन-बीनकर थोड़े में नकल करनी होगी। हू-ब-हू नही, उतने की ही नकल, जिसके किए बिना काम ही नही चल सकता। शिकार मे जो कमी और खामी रह गई थी, नकल मे उन्हे रखने से काम नही चलता। उन भूलों को सुधार लेना होगा।

उस जमाने की बात

इस काट-छाट के बाद जो रूप बच रहेगा, वही होगा शिकार का नाच। इस तरह बार-बार शिकार मे जाते-आते और बार-बार उसकी नकल करते-करते शिकार का सही नाच निखर आएगा। शिकार से लौटने के बाद ही नही, जाने के पहले ही गिरोह के लोग एक बार नाच लेंगे। उस नाच की स्फूर्ति मे सारी जमात के लोग एक-मन, एक-प्राण हो उठेंगे। उस शिकार के आवेग मे सब एक हो लेंगे। उसके बाद धनुष की तनी डोरी से जैसे तीर छूटता है, वैसे ही सब लोग शिकार की खोज मे दौड़ पड़ेंगे।

पहले रहती है नकल, बाद मे आता है नक्शा। वास्तव की बुनियाद पर खड़ी होती है कल्पना। पहले छाप थी, उन पर से बना नए का साँचा। शिकारी हैं नाचने वाले, जीव-जंतु के बदले आए उनके मुखड़े।

इसी तरह उन दिनो के नाचघर जादूघर बन गए। नाच और जादू मे कोई फर्क नही रहा।

जितने देवता हैं, सबके सब मनुष्य के सांचे मे ढले हैं। जिन्हे हम लड्डूगोपाल कहते हैं, वे श्रीकृष्णजी कुछ कम नाचने वाले नही थे। और शिवजी का तो कहना ही क्या! वे ठहरे नटराज।

। देवी-देवता, भजन-पूजन की पूछ-ताछ उस समय नहीं थी, ये
।व तो उपसर्ग की तरह बाद में आ उपस्थित हुए।

असल की नकल

नाचने का मतलब है शरीर की भंगियों से किसी-न-किसी भाव को रूप देना। यों समझिए, हाथ में तीर-कमान नहीं है। फिर भी खाली हाथों तीर मारने की नकल की जा सकती है। नकल करके असली बात बताई जा सकती है।

यह नकल करने की जरूरत क्यों आ पड़ी ? जो बातें गुजर चुकी हों, उन्हें याद रखने के लिए। याद-दाश्त को ताजा करने के लिए।

इस के सिवाय और कोई जरूरत नहीं है इसकी ? है। जो बात नहीं हुई है, उसे करने के लिए। बीती बातों का छोर पकड़कर भविष्यत की नई आशाएं आती हैं।

आदिम लोग जमात बांधकर शिकार को निकले। शौक से नहीं निकले, निकले भूख के सताए, जीने के तकाजे से। तमाम दिन जंगल की खाक छानते रहे, शिकार हाथ नहीं आया। दो दिन के बाद एक बहुत बड़ा शिकार मिला। शिकार मारकर लोग ले आए। आग जलाकर उसके चारों ओर लोग मौज से नाचने लगे। इस नाच में उन्होंने इस बात की नकल उतारी कि जमात ने किस तरह हिरनों के गिरोह पर धावा किया और शिकार किया। उस समय वे नकली शिकारी बन गए। इस नकल के लिए हिरन भी तो चाहिए। सो जमात का ही कोई व्यक्ति माथे पर सींग बांधकर हिरन बन गया।

मगर स्थान और समय कम है, फिर शुरू से आखीर तक पूरी-पूरी नकल उतारने में मेहनत भी बहुत लगेगी। इससे तो

भीतर-ही-भीतर बहुत दिनों तक लड़ाई चलती रही। इसीलिए आज भी देश के साधारण लोगों में देवी-देवता और पुरोहित—हीन व्रत आज भी प्रचलित हैं। बाहर से रंग-पोतकर भीतर को बदलना संभव नहीं हो सका।

उच्च वर्ग के लोगों ने मेहनत-मजूरी के कामों को नीचा मानकर समाज में जात-पात की बला को ला बिठाया। काम के साथ नाच का नजदीकी संबन्ध है। इसीलिए उनके आगे नाच नीचों का कर्म बन गया है। नट जाति को उन्होंने समाज के निम्न वर्ग में रखा है। नाट का मतलब है नाच। किन्तु आज हम उससे छोटा, नाटा अकुशल का मतलब लगाते हैं। नाटे को छोटा समझने की बात समाज में उच्च वर्ग की ही साजिश से चल पड़ी है या नहीं, कौन जाने? सत्र या क्षत्र से ही क्या छत्तीस आया है? छत्तीस जात कहने से हीन का बोध होता है। ब्राह्मण को छोड़कर समाज के बाकी सब लोग छत्तीस जात में गिने जाते हैं। मतलब यह है कि समाज में ब्राह्मण तो चोटी पर बैठ गये और बाकी लोगों को इतर कहने लगे।

हुवन नहीं, साधना

पहले गांव के तमाम लोग कहीं जमा होकर नाचने-गाते थे और इस तरह अपनी कामना को रूप देते थे। यह नाच-गान शौक-मौज में शामिल नहीं था। हम एक हैं—इस बोध को नाच के जरिए सबमें जगाया जाता था। फसल बोने के पहले और फसल काटने के पहले सब मिलकर नाचते थे। अलग-अलग कामों को एक के बाद दूसरा, इस तरह क्रमबद्ध कर लिया जाता था। फौज की चांदमारी और कवायद की तरह नाच ... दंगल था।

खेती-बारी के युग में

खेती-बारी के युग में मनुष्य कुछ स्थिर हो गए। नए समाज में नाच का ढंग भी बदल गया। शिकार के बदले, जीव-जंतुओं के बदले फसल का नाच महत्व का हो उठा। पर्व-त्योहार होने लगा। समाज का एक वर्ग बाकी सबकी फ़सल में हिस्सा बटाने लगा। जादू अब जादू नहीं रह गया। जादू-मंतर से धीरे-धीरे धर्म का उदय हुआ। ब्राह्मण-पुरोहित और पूजा-अर्चन की नींव पड़ी। प्रकृति और आदमी के बीच में ओट बनकर खड़े हो गए देवी-देवता। जो कुछ क्रिया-कर्म थे, सब सूखे प्रचार बन गए। धीरे-धीरे मनुष्य के मन से कामना को भी धोने-पोंछने की कोशिश की गई। प्रकृति के नियम को नियति बनाया गया, जिस पर मनुष्य का कोई वस नहीं। फल पाने वालों ने बाकी लोगों को कहा—काम करते जाओ, फल पाने की आशा मत करो।

उस युग में जो दल के सरदार होते थे, वही नाच के भी सरदार होते थे।

हमारे यहां वैदिक काल में भी नाच की खासी कदर थी। महाव्रत और अश्वमेध यज्ञ में बदस्तूर नाच हुआ करते थे। इंद्र की सभा में गंधर्व और किन्नरियों का ही नाच नहीं हुआ करता था, इन्द्र खुद भी नाचने में उस्ताद थे। पुराने जमाने में नाच से जादू का नाच ही समझा जाता था। लिहाजा जमात का सरदार, नाट्य-गुरु और जादूगर एक ही आदमी होता था। जैसे, इन्द्र।

मगर इसका यह मतलब नहीं कि ऐसा अचानक ही रातों-रात हो गया। इस-उस दल में कभी खुल्लम खुल्ला, तो कभी

भीतर-ही-भीतर बहुत दिनों तक लड़ाई चलती रही। इसीलिए आज भी देश के साधारण लोगों में देवी-देवता और पुरोहित—हीन व्रत आज भी प्रचलित हैं। बाहर से रंग-पोतकर भीतर को बदलना संभव नहीं हो सका।

उच्च वर्ग के लोगों ने मेहनत-मजूरी के कामों को नीचा मानकर समाज में जात-पात की बला को ला बिठाया। काम के साथ नाच का नजदीकी संबन्ध है। इसीलिए उनके आगे नाच नीचों का कर्म बन गया है। नट जाति को उन्होंने समाज के निम्न वर्ग में रखा है। नाट का मतलब है नाच। किन्तु आज हम उसमें छोटा, नाटा अकुशल का मतलब लगाते हैं। नाटे को छोटा समझने की बात समाज में उच्च वर्ग की ही साज़िश में चल पड़ी है या नहीं, कौन जाने? सत्र या क्षत्र से ही क्या छत्तीस आया है? छत्तीस जात कहने से हीन का बोध होता है। ब्राह्मण को छोड़कर समाज के बाकी सब लोग छत्तीस जात में गिने जाते हैं। मतलब यह है कि समाज में ब्राह्मण तो चोटी पर बैठ गये और बाकी लोगों को इतर कहने लगे।

हुक्म नहीं, साधना

पहले गाव के तमाम लोग वहीं जमा होकर नाचते-गाते थे और इस तरह अपनी कामना को रूप देते थे। यह नाच-गान शौक-मौज में शामिल नहीं था। हम एक हैं—इस बोध को नाच के ज़रिए सबमें जगाया जाता था। फसल बोने के पहले और फसल काटने के पहले सब मिलकर नाचते थे। अलग-अलग कामों को एक के बाद दूसरा, इस तरह क्रमबद्ध कर लिया जाता था। फौज की चांदमारी और कवायद की तरह नाच [illegible] का दंगल था।

खेती-बारी के युग में

खेती-बारी के युग में मनुष्य कुछ स्थिर हो आए। नए समाज में नाच का ढंग भी बदल गया। शिकार के बदले, जीव-जंतुओं के बदले फसल का नाच महत्व का हो उठा। पर्व-त्योहार होने लगा। समाज का एक वर्ग बाकी सबकी फसल में हिस्सा बटाने लगा। ज़ादू अब जादू नहीं रह गया। जादू-मंतर से धीरे-धीरे धर्म का उदय हुआ। ब्राह्मण-पुरोहित और पूजा-अर्चन की नीव पड़ी। प्रकृति और आदमी के बीच में ओट बनकर खड़े हो गए देवी-देवता। जो कुछ क्रिया-कर्म थे, सब सूखे आधार बन गए। धीरे-धीरे मनुष्य के मन से कामना को भी धोने-पोंछने की कोशिश की गई। प्रकृति के नियम को नियति बनाया गया, जिस पर मनुष्य का कोई बस नही। फल पाने वालों ने बाकी लोगों को कहा—काम करते जाओ, फल पाने की आशा मत करो।

उस युग में जो दल के सरदार होते थे, वही नाच के भी सरदार होते थे।

हमारे यहां वैदिक काल में भी नाच की खासी कदर थी। महाव्रत और अश्वमेध यज्ञ मे बदस्तूर नाच हुआ करते थे। इंद्र की सभा में गधर्व और किन्नरियों का ही नाच नही हुआ करता था, इन्द्र खुद भी नाचने में उस्ताद थे। पुराने जमाने मे नाच से जादू का नाच ही समझा जाता था। लिहाज़ा जमात का सरदार, नाट्य-गुरु और जादूगर एक ही आदमी होता था। जैसे, इन्द्र।

मगर इसका यह मतलब नही कि ऐसा अचानक ही रातों-रात हो गया। इस-उस दल में कभी खुल्लम खुल्ला, तो कभी

भीतर-ही-भीतर बहुत दिनों तक लड़ाई चलती रही। इसी
आज भी देश के साधारण लोगों में देवी-देवता और पुरोहित
हीन व्रत आज भी प्रचलित हैं। बाहर से रंग-पोतकर भीतर
बदलना संभव नहीं हो सका।

उच्च वर्ग के लोगों ने मेहनत-मजूरी के कामों को नीच
मानकर समाज में जात-पात की बला को ला बिठाया। काम
के साथ नाच का नज़दीकी संबन्ध है। इसीलिए उनके आगे
नाच नीचों का कर्म बन गया है। नट जाति को उन्होंने समाज
के निम्न वर्ग में रखा है। नाट का मतलब है नाच। किन्तु
आज हम उससे छोटा, नाटा अकुशल का मतलब लगाते हैं।
नाटे को छोटा समझने की बात समाज में उच्च वर्ग की ही
साज़िश से चल पड़ी है या नहीं, कौन जाने? नत या क्षत्र में ही
क्या छत्तीस आया है? छत्तीस जात कहने से हीन का बोध
होता है। ब्राह्मण को छोड़कर समाज के बाकी सब लोग छत्तीस
जात में गिने जाते हैं। मतलब यह है कि समाज में ब्राह्मण तो
चोटी पर बैठ गये और बाकी लोगों को इतर कहने लगे।

खेती-बारी के युग में

खेती-बारी के युग में मनुष्य कुछ स्थिर हो आए। नए समाज में नाच का ढंग भी बदल गया। शिकार के बदले, जीव-जंतुओं के बदले फसल का नाच महत्व का हो उठा। पर्व-त्योहार होने लगा। समाज का एक वर्ग बाकी सबकी फसल में हिस्सा बटाने लगा। जादू अब जादू नहीं रह गया। जादू-मंतर से धीरे-धीरे धर्म का उदय हुआ। ब्राह्मण-पुरोहित और पूजा-अर्चन की नींव पड़ी। प्रकृति और आदमी के बीच में ओट बनकर खड़े हो गए देवी-देवता। जो कुछ क्रिया-कर्म थे, सब मूसे आचार बन गए। धीरे-धीरे मनुष्य के मन से कामना को भी धोने-पोंछने की कोशिश की गई। प्रकृति के नियम को नियति बनाया गया, जिस पर मनुष्य का कोई बस नहीं। फल पाने वालों ने बाकी लोगों को कहा—काम करते जाओ, फल पाने की आशा मत करो।

उस युग में जो दल के सरदार होते थे, वही नाच के भी सरदार होते थे।

हमारे यहां वैदिक काल में भी नाच की खासी कद्र... महाव्रत और अश्वमेध यज्ञ में बदस्तूर नाच हुआ क... इंद्र की सभा में गंधर्व और किन्नरियों का ही नाच... करता था, इन्द्र खुद भी नाचने में उस्ताद थे।... नाच से जादू का नाच ही समझा जाता था। लि... का सरदार, नाट्य-गुरु और जादूगर एक ही आद... जैसे, इन्द्र।

मगर इसका यह मतलब नहीं कि ऐसा अ... रात हो गया। इस-उस दल में कभी ...

शिशु के जन्म पर तरह-तरह के गीत-नाच चल रहे हैं। नाच में है-है, हाय-हाय, अहा, हो, हे जैसे अनेक शब्द सुनने में आते है। काम करते-करते मनुष्य जैसे शब्द निकालते है, वैसे ही शब्दों से ये निकले है।

छतों पर दुरमुश पीटते हुए, भारी वजन उठाते हुए मजूरे अजीब आवाज़ करते हैं—हेइयां, नाव के मल्लाह डांड खेते हुए, चरवाहे गाय चराते हुए तरह-तरह की आवाज़ करते हैं। ये आवाज़ें हर समय, हर कही एक-सी नही होती। जैसा काम, वैसी आवाज़।

नाच और खेल में भी बहुत समानता है। कबड्डी देखने से लगता है, यह खेल लड़ाई के नाच से निकला है।

नाच से

आज जब हम कविता पढते हैं तो ऐसा नही लगता कि कविता नाच से निकली है। लेकिन कविता के छंद से शरीर भी झूम उठते है। पढते-पढते कब जो हमारे हाथ हिलने लगते है। ताल-ताल पर पाँव डोल उठते है, इसकी खबर भी नही रहती।

शुरू में नाच के साथ अस्पष्ट छिट-पुट आवाज़ होती थी वही आवाज़ धीरे-धीरे साफ बात हो आई। वही सुरीली बा[illegible] बन गई गीत। गीत से सुर और शब्द अलग हो गए। सुर [illegible] कंठ-संगीत और यंत्र-संगीत बना। और शब्द से बन गए का[illegible] और नाटक।

लोग-बाग मगर नाच की बात कभी भूल न सके। कहा[illegible] मे लोगो ने नाच को बार-बार याद किया है। नाच का मत[illegible] खेल-तमाशा नही है। काम से नाच का नज़दीकी सम्बन्ध

यही जताने के लिए लोग आज भी कहा करते हैं—नाच के पाव नही रुकते; नाच न जाने अगना टेढा। और भी जाने कितना क्या।

गाना-बजाना

आप क्या जब-तब जहा-तहां जैसे-तैसे सुर में गाने लगते हैं ? तो पुराण की यह कहानी सुन रखिए—

गाना-बजाना सीखकर नारदजी ने को एक बार बहुत ही घमड हो गया था। उन्होने लापरवाही से जहा-तहा वीणा बजाना शुरू कर दिया।

एक दिन राह चलते नारदजी देखा, कुछ लगडे-लूले लोग रास्ते के किनारे लुढके पडे है। नारदजी ने उनसे पूछा—भई, तुम लोग कौन हो? किसने तुम्हारी ऐसी दुर्दशा की है ?

जवाब मे उन्होंने बताया—हम लोग है राग-रागिनी। नारद नाम के एक अनाडी वीणा-वादक के हाथो पड़कर हमारी यह दुर्गत हुई है।

नारदजी को अपनी भूल बखूबी समझ मे आ गई। कहानी को सुनकर कही आप बेहद खुश हो जायें और सोच लें कि बेसुरा गीत गाकर फलां की टाग फौरन तोड दूगा, तो पता नही तोड भी सकेगे या नही। इतना जरूर कहा जा सकता है कि पडोसियों के पाले पडकर आपकी अपनी टाग टूटने का खतरा है।

रहा न रहा

इसमे सदेह नही कि सुर से शरीर का सम्बन्ध है। सुर का मतलब है आवाज खोलना। जोरो की आवाज से कान के पर्दे

शिशु के जन्म पर तरह-तरह के गीत-नाच चल रहे हैं। नाच में है-है, हाय-हाय, अहा, हो, हे जैसे अनेक शब्द सुनने में आते हैं। काम करते-करते मनुष्य जैसे शब्द निकालते है, वैसे ही शब्दों से ये निकले है।

छतों पर दुरमुस पीटते हुए, भारी वजन उठाते हुए मजूरे अजीब आवाज करते हैं—हेइयां; नाव के मल्लाह डाड खेते हुए, चरवाहे गाय चराते हुए तरह-तरह की आवाज करते हैं। ये आवाजें हर समय, हर कही एक-सी नही होती। जैसा काम, वैसी आवाज।

नाच और खेल में भी बहुत समानता है। कबड्डी देखने से लगता है, यह खेल लडाई के नाच से निकला है।

नाच से

आज जब हम कविता पढते है तो ऐसा नही लगता कि कविता नाच से निकली है। लेकिन कविता के छद से शरीर भी झूम उठते है। पढते-पढते कब जो हमारे हाथ हिलने लगते है। ताल-ताल पर पाँव डोल उठते है, इसकी खबर भी नही रहती।

शुरू मे नाच के साथ अस्पष्ट छिट-पुट आवाज होती थी। वही आवाज धीरे-धीरे साफ बात हो आई। वही सुरीली बातें बन गई गीत। गीत से सुर और शब्द अलग हो गए। सुर से कंठ-संगीत और यत्र-सगीत बना। और शब्द से बन गए काव्य और नाटक।

लोग-बाग मगर नाच की बात कभी भूल न सके। कहावतो में लोगो ने नाच को बार-बार याद किया है। नाच का मतलब खेल-तमाशा नही है। काम से नाच का नजदीकी सम्बन्ध है।

यही जताने के लिए लोग आज भी कहा करते है—नाच के पाव नही रुकते; नाच न जाने अगना टेढा। और भी जाने कितना क्या।

गाना-बजाना

आप क्या जब-तब जहां-तहां जैसे-तैसे सुर में गाने लगते हैं? तो पुराण की यह कहानी सुन रखिए—

गाना-बजाना सीखकर नारदजी ने को एक बार बहुत ही घमड हो गया था। उन्होने लापरवाही से जहा-तहा वीणा बजाना शुरू कर दिया।

एक दिन राह चलते नारदजी देखा, कुछ लगडे-लूले लोग रास्ते के किनारे लुढके पडे हैं। नारदजी ने उनसे पूछा—भई, तुम लोग कौन हो? किसने तुम्हारी ऐसी दुर्दशा की है?

जवाब मे उन्होंने बताया—हम लोग हैं राग-रागिनी। नारद नाम के एक अनाडी वीणा-वादक के हाथो पड़कर हमारी यह दुर्गत हुई है।

नारदजी को अपनी भूल बखूबी समझ मे आ गई। कहानी को सुनकर कही आप बेहद खुश हो जायें और सोच लें कि बेसुरा गीत गाकर फला की टाग फौरन तोड दूगा, तो पता नही तोड भी सकेंगे या नही। इतना जरूर कहा जा सकता है कि पडोसियो के पाले पडकर आपकी अपनी टाग टूटने का खतरा है।

रहा न रहा

इसमें सदेह नही कि सुर से शरीर का सम्बन्ध है। सुर का मतलब है आवाज खोलना। जोरो की आवाज से कान के दर्द

शिशु के जन्म पर तरह-तरह के गीत-नाच चल रहे हैं। नाच में है-है, हाय-हाय, अहा, हो, हे जैसे अनेक शब्द सुनने में आते हैं। काम करते-करते मनुष्य जैसे शब्द निकालते है, वैसे ही शब्दों से ये निकले है।

छतों पर दुरमुस पीटते हुए, भारी वज़न उठाते हुए मजूरे अजीब आवाज करते हैं—हैंइयां; नाव के मल्लाह डांड खेते हुए, चरवाहे गाय चराते हुए तरह-तरह की आवाज़ करते हैं। ये आवाज़े हर समय, हर कही एक-सी नही होतीं। जैसा काम, वैसी आवाज़।

नाच और खेल मे भी बहुत समानता है। कवड्डी देखने से लगता है, यह खेल लड़ाई के नाच से निकला है।

नाच से

आज जब हम कविता पढते है तो ऐसा नही लगता कि कविता नाच से निकली है। लेकिन कविता के छंद से शरीर भी झूम उठते है। पढते-पढ़ते कब जो हमारे हाथ हिलने हैं। ताल-ताल पर पांव डोल उठते है, इसकी खबर रहती।

शुरू मे नाच के साथ अस्पष्ट छिट-
वही आवाज़ धीरे-धीरे साफ बात हो आई
बन गई गीत। गीत से सुर और शब्द
कंठ-संगीत और यन्त्र-सगीत बना। और
और नाटक।

लोग-बाग मगर नाच की बात कभी भूल न
में लोगों ने नाच को बार-बार याद किया है।
खेल-तमाशा नही है। काम से नाच का न

है। किसी गेंद को आपने इधर से उधर लुढका दिया। यह गेंद है वस्तु और उसका लुढक जाना हुआ गेंद की गति। मगर यदि कोई यह कहे कि गेंद के न होते हुए भी गेंद की गति हो सकती है—तो उसे एडी से चोटी तक बांधकर कहना चाहिए—जरा दो कदम दौड़ तो लें हज़रत।

इससे यही ज़ाहिर होता है कि सुर ऐसा कोई अतीन्द्रिय व्यापार नहीं है, जो हमारी पकड से बिल्कुल बाहर है—उसका बसेरा धरती ही पर है। इसीलिए ग्रामोफोन या तार-बेतार में उसे बांधा जा सकता है।

शब्द को नियम से बाधने पर सुर होता है। सुरीला शब्द ही गीत है।

सुर के स्रष्टा

एक दृष्टि से तो ऐसा लगता है कि आदमी बडा विनयी है। जिस गौरव का हकदार वह अकेले है, उसे वह देवता के हाथों सौंप देता है। कहते हैं, महादेव की प्रणव-ध्वनि से सुर की सृष्टि हुई है। लेकिन यह बात छिपी रहती है कि ये महादेव भी मनुष्य के ही बनाए हैं। विशेष अवस्था में खुद को ही भुलाकर मनुष्य ने देवता बना लिया है। और मनुष्य के ही गुणों को चरम बनाकर देवताओं के मत्थे थोपा है।

इसीलिए दूसरी नज़र से मनुष्य बडा ही घमंडी दीखता है। जो गौरव उसका नहीं है, देवता की बेनामी पर उसे भी वह अपना किए लेता है। सुर तो आया है प्रकृति से। मनुष्य का जब जन्म भी नहीं हुआ था, तब भी प्रकृति में सुर था। नदी की कल-कल ध्वनि में, चिड़ियों की चहक में, हवा से कांपते

फट चाहे न जाए, कान में ताला पड़ सकता है—यह आप जानते हैं। आजमाकर देख सकते हैं।

सुर सुनकर बहुत बार हमें रोमांच हो आता है। दूसरी तरह से यही कहें, तो कह सकते हैं, हमारे रोंगटे खड़े हो आते हैं। कभी सुर सुनते-सुनते आंखें भिप जाती हैं।

तो सुर जो चीज है, वह निहायत निकम्मी चीज नहीं। लेकिन दीपक गाने से आग जल उठती है, मल्हार गाने से पानी पड़ने लग जाता है—ये सब गढ़े हुए गप हैं। किसी सत्य को फुला देने से वह मिथ्या हो उठता है। जैसे, ज्यादा मलने से नीबू कड़वा हो जाता है।

धरती पर बसेरा

क्योंकि अगर ऐसा ही होता तो खेतों मे जाकर लोग गीत गाते और गोले अनाज से ठसाठस भर जाते। तकलीफ करके फसल बोने-काटने की जरूरत ही नहीं होती।

सुर के मिठास की जब हम तारीफ करते हैं, तो इसीलिए नहीं कि उसे आंखों देखते है। सुर देख नहीं पड़ता, छुआ नहीं जाता, उसमें गंध नहीं—मगर वह सुना जाता है। सुर है, इसीलिए सुना जाता है। न हो तो क्या हम सुर को सुन सकते है? नाक-मुंह बंद करके गले से सुर निकालने की क्षमता किसी में नहीं। ठीक इसी तरह जब हारमोनियम कमरे मे पडा रहता है और उसमें कोई हाथ नहीं लगाता, तो उसमे से आवाज निकलना मुमकिन नहीं है। जिसमें गीत नहीं है, उसमें सुर नहीं है। गीत के बिना सुर हो ही नहीं सकता। [illegible]
में गति है। और गति कहने ही से [illegible]
[illegible] विशेष [illegible]

है। किसी गेंद को आपने इधर से उधर लुढ़का दिया। यह गेंद है वस्तु और उसका लुढ़क जाना हुआ गेंद की गति। मगर यदि कोई यह कहे कि गेंद के न होते हुए भी गेंद की गति हो सकती है—तो उसे एड़ी से चोटी तक बांधकर कहना चाहिए—जरा दो कदम दौड़ तो ले हजरत।

इससे यही जाहिर होता है कि सुर ऐसा कोई अतीन्द्रिय व्यापार नहीं है, जो हमारी पकड़ से बिलकुल बाहर है—उसका बसेरा धरती ही पर है। इसीलिए ग्रामोफोन या तार-बेतार में उसे बांधा जा सकता है।

शब्द को नियम से बांधने पर सुर होता है। सुरीला शब्द ही गीत है।

सुर के स्रष्टा

एक दृष्टि से तो ऐसा लगता है कि आदमी बड़ा विनयी है। जिस गौरव का हकदार वह अकेले है, उसे वह देवता के हाथों सौंप देता है। कहते हैं, महादेव की डमरू-ध्वनि से सुर की सृष्टि हुई है। लेकिन यह बात छिपी रहती है कि ये महादेव भी मनुष्य ने ही बनाए हैं। किसी अवस्था में गुरु को ही फुलाकर मनुष्य ने देवता बना लिया है। और मनुष्य के ही गुणों को चरम बनाकर देवताओं के कन्धे थोपा है।

इसीलिए दूसरी नजर से मनुष्य बड़ा ही घमंडी दीखता है। जो गौरव उसका नहीं है, देवता की सेवाओं पर उसे भी वह अपना किए लेता है। सुर तो आता है प्रकृति से। मनुष्य का जब जन्म भी नहीं हुआ था, तब भी प्रकृति में सुर था। नदी की कल-कल ध्वनि में, चिड़ियों की चहचह में, हवा के झोंके

नाचते वक्त तालियां बजाई जाती थी, वह बन गईं—बाजे। नाच के गुल-गपाड़े बदलकर बन गए गीत। बाद मे दल के सिवाय लोगों ने अकेले गाना-बजाना सीखा।

रुक-रुककर की जाने वाली आवाज़ मीड़-मूर्च्छना कैसे बन गई, इस पर नाना मुनियों के नाना मत हैं। कुछ लोग कहते हैं, शोक से सुख का जन्म हुआ है। इसके सबूत मे उनका कहना है कि आस्ट्रेलिया की आदिम जाति के लोग साझ होने पर मरे हुओं के लिए लय मे रोया करते हैं। ग्रीस में भी इसी तरह रोने का रिवाज था। हम-आप जो रोने-गाने की बात किया करते हैं, उसके पीछे भी शायद ऐसा ही कोई इतिहास हो।

हमारे यहां पुराण मे कहा गया है, शोक से ही श्लोक का जन्म हुआ। क्रौंच के शोक को देखकर आदि कवि वालमीकि ने श्लोक बनाया था। हमारे यहां की औरते शोक मे जब ज़ार-बेज़ार रोती हैं, तो दूर से वह रोना गीत-जैसा ही लगता है। बहुत बार उस रोने मे शब्द बहुत कम होते हैं या कभी-कभी गाथा की तरह उस रोने की कहानी कही जाती है।

पुकार की नकल

ईंट की किसी आलीशान इमारत के पास कोई कच्चा मकान खड़ा हो तो देखकर यह नही मालूम होता कि दोनों का मूल एक ही है मगर दोनों ही बने होते हैं माटी के। कच्ची मिट्टी और पकाई मिट्टी। मतलब यह निकला कि भेद दरअसल दोनो की प्रकृति मे नही है। देखना यह होता है कि उस प्रकृति को मनुष्य ने कहा तक बदला है, उसमे अपने हाथों की कुशलता कितनी लगाई है।

हमारे पोथी-पुराणो की राय में सात स्वर शायद सात जानवरो की आवाज़ से निकले हैं। मयूर से 'स', साड़ से 'रे',

हुए पत्तों के मर्मर में गान था। इसलिए गीत गाकर मनुष्य
नाज़ करने का कारण नहीं है।

मगर लोग जो चाहे सो कहें, सुर मनुष्य की ही सृष्टि है
प्रकृति लाख कोशिश करके भी गीत की दो कड़ी नही ग
सकती। झाड के पेड़ अपनी सांय-सांय की आवाज़ न करके
पानी की कलकल ध्वनि कर तो लें, देखें! हर्गिज़ नही कर
सकते। मनुष्य अपना जैसा चाहे, वैसा सुर बना सकता है।
दुःख में उसका सुर और होता है, सुख में और। सुर पर उसका
दखल है। इसीलिए मीठे गले के लिए कोयल का नाम चाहे जितना
हो, गीत की किसी महफिल में उसे बैठा दिया जाए तो एक भी
सुनने वाला वहां बैठा नही रहे! क्योंकि वह तो अपनी एक ही
कूक की झड़ी लगा देगी। वह गीत नही गाती, कूकती है।
कूकना उसका स्वभाव है। और जो स्वभाव है, वह सृष्टि नही
है। स्वभाव को बदलने का ही नाम सृष्टि है।

धूल-माटी के नीचे मिले रहना लोहे का स्वभाव है। लोहा
बनाने के लिए उसके उस स्वभाव को बदलना पड़ता है, उसे
माटी मे से अलग निकालना पड़ता है। और यह काम सिर्फ
मनुष्य ही कर सकता है।

कहां से आया

ठीक उसी तरह प्रकृति में जो सुर
तोड़-मरोड़ कर मनुष्य ने अपने गले
है।

कभी जमात बांधकर ताल ५
की ज़बान फूटी थी। उसी बोली
हुआ।

पेट पीठ चरण सारित मनमार बरे,
लक्ष लक्ष वाण अमुकेर कि कोरिते पारे।
कागरेर कामाक्षि देवी दिया गेलो वर'
बालिर ब्रिद राजा बोले, अमुक हुआ अमर।'

मिल-जुलकर काम करने के रिवाज से जैसे सामूहिक नाच की शुरुआत हुई, वैसे ही गीत की बुनियाद भी काम से पड़ी। बहुत पुराने समय में जिन औज़ारों से मनुष्य ने काम करना शुरू किया था, उन्हीं से ठन्-ठन्, ठक-ठक शब्द से पहला सुर उठा था। उन्हीं शब्दों को और मांज कर तरह-तरह से निखार मनुष्य ने मनचाहा सुर निकाला है।

काम की बात

गीत का बाहरी ढांचा ही नहीं, उसके अंदर की बातें भी ज़िंदगी से ही आई है। गांवों में जो साधु-फकीर गाते-मांगते फिरते हैं, उनके गीतों को हम जितना आध्यात्मिक समझते, हकीकत में वे उतने आध्यात्मिक नहीं हैं। जो वैसे गीत गाते हैं और जिनके बीच गाते हैं, वे सबके सब गांव के भोले-भाले लोग होते हैं। उनके गीतों में ठाकुर-देवता का समावेश बाद में हुआ है। उन गीतों में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनसे यह पता चलता है कि किसी समय ये गीत जातिगत व्यवसाय के गीत थे। जो ओझा-गुणी झाड़-फूंक और जंतर-तावीज़ करते थे, जो डोम-डोमिन बेंत और चमड़े का काम करते थे, जो मल्लाह मछली का शिकार करते, नाव खेते थे—कभी ये सब गीत उन्हीं के थे। साईं, गुसाईं, गुरु—ये लोग जादूगर-पुरोहित और दल के सरदार थे।

देह-तत्त्व सम्बन्धी गीतों में बत्तीस नाड़ियों, नल-नलियों का ज़िक्र आता है। यहां उस समय केवल जड़ी-बूटी की, दवा ही नहीं चालू थी—जो लोग ये काम करते थे, वे चीर-फाड़ में

बकरी से गा, बगुले से 'मा', कोयल से 'प', घोड़ा से 'ध', हाथी से नी। पोथी-पुराण में जीव-जंतुओं के नाम तरह-तरह के कारणों से आए हैं। कई बार जानवर के नाम से आदमी का बोध कराया गया है। खैर, जो भी हो। जब जानवरों के मुखड़े पहनकर नाच में उनकी भंगिमाओं की नकल की जाती रही है तो उनकी पुकार की नकल करना असंभव नहीं है।

कई साल पहले मध्यपूर्व के उर नाम की जगह में पांच-छः हजार साल पहले का एक तार-यंत्र पाया गया है। उसका ऊपर और नीचे का भाग साड जैसा बना है। उसमें लिखा है, इस बाजे की आवाज साड की आवाज-जैसी है। और बाजे पाए गए हैं, जिनमें से सबमे किसी-न-किसी जीव-जंतु की मूर्ति है।

बाजे पर पुकार की नकल करना आज भी हमारे देश में देखा जाता है। ढोल पर मेघ का गड़गड़ाना, इकतारे से बोली निकालना। इसके सिवाय जो हरबोले है, वे तो गले से ही जाने कितनी बोलियां निकाला करते हैं।

सुर का जादू

सुर से जादू का गहरा संबंध है। गीत ही पहले मंत्र था। केवल इतना ही नहीं कि मंत्र गाकर पढा जाता था, बल्कि पढ़ने में अगर सुर का थोड़ा-बहुत हेर-फेर हो जाता, तो उसका फल ही शायद उलटा मिलता था। इससे यही समझ में आता है कि सुर के बिना जादू होता ही नही था।

सपेरों के मुंह से आज भी हम जो मंत्र सुनते हैं, वह गीत के सिवा और क्या है ? एक नमूना देखिए,

'हस्त सारम् गला सारम् आर सारम् मुख'
पेट पीठ चरण सारम् आर सारम् बुक ।

पेट पीठ चरण साति मनसार बरे,
लक्ष लक्ष वाण अमुकेर कि कोरिते पारे।
कागरेर कामाक्षि देवी दिया गेलो वर'
वालिर त्रिद राजा बोले, अमुक हुआ अमर।'

मिल-जुलकर काम करने के रिवाज से जैसे सामूहिक नाच की शुरुआत हुई, वैसे ही गीत की बुनियाद भी काम से पड़ी। बहुत पुराने समय में जिन औज़ारों से मनुष्य ने काम करना शुरू किया था, उन्हीं के ठन्-ठन्, ठक-ठक शब्द से पहला सुर उठा था। उन्हीं शब्दों को और मांज कर तरह-तरह से निखार मनुष्य ने मनचाहा सुर निकाला है।

काम की बात

गीत का बाहरी ढांचा ही नहीं, उनके अंदर की बातें भी जिंदगी से ही आई हैं। गांवों में जो साधु-फकीर गाते-मांगते फिरते हैं, उनके गीतों को हम जितना आध्यात्मिक समझते, हकीकत में वे उतने आध्यात्मिक नहीं हैं। जो वैसे गीत गाते हैं और जिनके बीच गाते हैं, वे सबके सब गांव के भोले-भाले लोग होते हैं। उनके गीतों में ठाकुर-देवता का समावेश बाद में हुआ है। उन गीतों में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनसे यह पता चलता है कि किसी समय वे गीत जातिगत व्यवसाय के गीत थे। जो ओझा-गुनी झाड़-फूंक और जन्तर-तावीज करते थे, जो डोम-डोमिन बेंत और चमड़े का काम करते थे, जो मल्लाह मछली का शिकार करते, नाव खेते थे—कभी ये सब गीत उन्हीं के थे। साईं, गुसाईं, गुरु—ये लोग जादूगर-पुरोहित और दल के सरदार थे।

देह-तत्त्व सम्बन्धी गीतों में बत्तीस नाड़ियों, नस-नसियों का जिक्र आता है। यहां उस समय केवल जड़ी-बूटी की, दवा ही नहीं चालू थी—जो लोग ये काम करते थे, वे चीर-फाड़ में

पेट पीठ चरण साति मननार धरे,
लक्ष नक्ष वाण अमुकेर कि कोरिते पारे।
कागरेर कामाक्षि देवी दिया गेलो वर'
वालिर विद राजा वोले, अमुक हुआ अमर।'

मिल-जुलकर काम करने के रिवाज से जैसे सामूहिक नाच की शुरुआत हुई, वैसे ही गीत की बुनियाद भी काम से पडी। बहुत पुराने समय में जिन औजारों से मनुष्य ने काम करना शुरू किया था, उन्हीं से ठन्-ठन्, ठक-ठक शब्द से पहला सुर उठा था। उन्हीं शब्दों को और माज कर तरह-तरह से निखार मनुष्य ने मनचाहा सुर निकाला है।

काम की बात

गीत का बाहरी ढाचा ही नही, उनके अदर की बाते भी जिंदगी ने ही आई है। गावों में जो साधु-फकीर गाते-मागते फिरते हैं, उनके गीतों को हम जितना आध्यात्मिक समझते, हकीकत में वे उतने आध्यात्मिक नही है। जो वैसे गीत गाते हैं और जिनके बीच गाते हैं, वे सबके सब गाव के भोले-भाले लोग होते हैं। उनके गीतों मे ठाकुर-देवता का समावेश बाद में हुआ है। उन गीतों में कुछ ऐसे सकेत मिलते हैं, जिनसे यह पता चलता है कि किसी समय वे गीत जातिगत व्यवसाय के गीत थे। जो ओझा-गुनी झाड-फूक और जतर-तावीज़ करते थे, जो डोम-डोमिन बेत और चमडे का काम करते थे, जो मल्लाह मछली का शिकार करते, नाव खेते थे—कभी ये सब गीत उन्हीके थे। साईं, गुसाई, गुरु—ये लोग जादूगर-पुरोहित और दल के सरदार थे।

देह-तत्त्व सम्बन्धी गीतों में बत्तीस नाडियों, नल-नलियों का जिक्र आता है। यहा उस समय केवल जडी-बूटी की, दवा ही नही चालू थी—जो लोग ये काम करते थे, वे चीर-फाड़ में

जिन औजारों से उस युग के लोग काम किया करते थे, उन्हीं की शक्ल-सूरत थोड़ा-बहुत अदल-बदल कर ये बाजे बने। नीचे के चित्र से इसके सबूत मिलेंगे।

संसार में जो लोग आज भी आदिम अवस्था में हैं, उनमें बाजों का रिवाज ज़्यादा नहीं पाया जाता। जैसे, चुकची लोगों में महज़ ताल पीटने का एक तरह का यंत्र पाया जाता है। चूंकि उन लोगों में काम करने के औज़ारों की बढ़ती नहीं हुई है, इसीलिए बाजों की भी वैसी तरक्की नहीं हो सकी है।

बाजे चार तरह के होते हैं—तत् यानी तार के, वितत या आनद्ध अर्थात् चमड़े से बंधे, घन यानी कांसे के और शुषिर यानी फूंक से बजाने वाले बाजे।

पीटना और रगड़ना

वितत और घन—यही दो तरह के यंत्र सबसे पुराने हैं। ढोल वितत है और कांसी घन। इन्हें ठोककर बजाना पड़ता है। आदिम मनुष्यों के हाथों पहले औजार ही पत्थर के थे। पत्थर से पत्थर ठोक कर आग पाई जाती थी। ठोकना-पीटना तो था ही, रगड़ने का काम भी आता था। इसीलिए शिकार किए पशु के चमड़े से लोगों ने बाजा बनाना बहुत पहले सीखा था।

हमारे यहां की पुरानी पोथियों में चमड़े के (आनद्ध) जिन बाजों के नाम पाए जाते हैं, वे हैं—पटह, मर्दल या मादर, हुडुक्क, आकरट, अपट, रुंजा, डमरू, ढक्का, कुडुक्की, दुन्दुभि, त्रिवली, डिण्डिम, भूमिदुंदुभि, भेरी, निःसान, तुम्बकी, टमकी, मण्ड, कबूज, पणव, कुंडली, पादवाद्य, झर्झर, मड्ड, मृदंग, तबला, ढोल, ढोलक, डाडा, जगझम्प, तामा, दमामा, टिकारा जोरघड़, खुड़का, इनमें से ज़्यादातर अब लुप्त हो गए हैं।

भी माहिर थे। झाड़-फूंक और नली का प्रयोग तो आज भी जारी है। पुराने गीतों और पदों में उसका परिचय पाया जाता है। यह देहतत्व का पद :

झीनी-झीनी बीनी चदरिया।
काहे का ताना काहे की भरनी
कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला-पिंगला ताना भरनी
सुषमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कमल दल चरखा डोलै
पाच तत्व गुन तीनी चदरिया।
साईं को सियत मास दस लागे
ठोक ठोक कै बीनी चदरिया।

औजार और बाजा

गीतों के ही समान कामों के आवेग से ही बाजे भी निकले थे।

जिन औजारो से उस युग के लोग काम किया करते थे, उन्ही को शक्ल-सूरत थोडा-बहुत अदल-बदल कर ये बाजे बने। नीचे के चित्र से इसके सबूत मिलेगे।

ससार में जो लोग आज भी आदिम अवस्था मे हैं, उनमें बाजो का रिवाज ज्यादा नही पाया जाता। जैसे, चुकची लोगों में महज ताल पीटने का एक तरह का यत्र पाया जाता है। चूंकि उन लोगों में काम करने के औजारो की बढती नही हुई है, इसीलिए बाजो की भी वैसी तरक्की नही हो सकी है।

बाजे चार तरह के होते है—तत् यानी तार के; वितत या आनद्ध अर्थात् चमडे से बधे, घन यानी कांस के और शुषिर यानी फूंक से बजाने वाले बाजे।

पीटना और रगड़ना

वितत और घन—यही दो तरह के यत्र सबसे पुराने हैं। ढोल वितत है और कांसी घन। इन्हे ठोककर बजाना पडता है। आदिम मनुष्यो के हाथो पहले औजार ही पत्थर के थे। पत्थर से पत्थर ठोक कर आग पाई जाती थी। ठोंकना-पीटना तो था ही, रगडने का काम भी आता था। इसीलिए शिकार किए पशु के चमड़े से लोगो ने बाजा बनाना बहुत पहले सीखा था।

हमारे यहा की पुरानी पोथियों मे चमड़े के (आनद्ध) जिन बाजो के नाम पाए जाते हैं, वे हैं—पटह, मर्दल या मादर, हुडुक्, आकरट, अघट, रंजा, डमरू, ढक्का, कड़ली, टुक्कवि, त्रिवली, डिन्डिभ, भूमिदुंदुभि, भेरी, निःसान, तुम्बकी, टमकी, मन्ड, कंबूज, पणव, कुडली, पादवाद्य, शर्कर, मद्ध, मृदग, तबला, ढोल, ढोलक, काडा, जगझम्प, तासा, दमामा, टिकारा जोरधड़, खुड़दका, इनमे से ज्यादातर अब लुप्त हो गए हैं।

भी माहिर थे। झाड़-फूंक और नली का प्रयोग तो आज जारी है। पुराने गीतो और पदों में उसका परिचय पाया जा[ता] है। यह देहतत्व का पद :

झीनी-झीनी बीनी चदरिया।
काहे का ताना काहे की भरनी
कौन तार से बीनी चदरिया।
इगला-पिंगला ताना भरनी
सुषमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कमल दल चरखा डोलै
पांच तत्व गुन तीनी चदरिया।
साईं को सियत मास दस लागे
ठोक ठोक कै बीनी चदरिया।

औजार और बाजा

गीतों के ही समान

तात-बाजों में आते हैं—अलापिनी, ब्रह्मवीणा, किन्नरी, विपंची, वल्लरी, ज्येष्ठा, चित्रा, घोषवती, जया, स्वस्तिका, कूर्पिका, कुब्जा, सारंगी, परिवादिनी, त्रिस्वरी, श्वेततंत्री, नकुलोष्ठी, औड़वरी, पिनाक, निबग, पुष्कल, गदा, वारणहस्त, रुद्रवीणा, स्वरमडह, कपिनाम, मधुष्यदी, घना, महती वीणा, रजनी, सारद, सुरसाब्द, स्वरशृंगार, सुरबहार, नादेश्वर वीणा, भरत वीणा, दुंबुरू, वीणा, कात्यायन वीणा, प्रसारणी, इसराज, मायूरी, इकतारा, गोपीयन्त्र, मोरग, आनंद लहरी। इनमें से अधिकांश बाजे आजकल पाए ही नहीं जाते।

वैदिक युग में ही हम पाते हैं कि बजाना एक वर्ग-विशे[illegible] का पेशा बन गया था। देवताओं की मूर्तियों से भी अन्दाज [illegible] किया जा सकता है कि किसी समय बाजों की बड़ी कद्र थी। शिव के हाथ में विषाण है, विष्णु के हाथ में शंख है, सरस्वती के हाथ है वीणा और कृष्ण के हाथों बांसुरी।

घन यंत्रों में आते हैं झांझर, घड़ियाल, घंटा, घुंघरू, नूपुर, मंजीरा, खरताल, करताल, जलतरंग। ये सब लोहा, कांसा या कांच से बनते हैं। मगर कभी इनमें से अधिकांश लोहे के ही बनते होंगे। क्योंकि 'घन' का मतलब ही लोहा है।

खींचना और पीटना

तार के बाजे भी बड़े पुराने हैं। धुनिए के हाथो धुनकी आपने जरूर देखी होगी। उसकी आवाज भी बाजे की आवाज की याद दिलाती है। धुनिया लकड़ी के जिस टुकड़े से धुनकी पर बार-बार मारता है, उससे इसराज की छड का स्मरण हो आता है।

धुनकी एक तरह का बाजा ही है। किसी-किसी आदिम जाति में आज भी वैसा बाजा चलता है। हमारे यहां इसीको पिनाक कहते है। यह पिनाक और इकतारा—यही दो यहां के सबसे पुराने बाजे है।

तार के बाजे से केवल लोहे या तांबे के तार का बोध नहीं होता। ऐसे यंत्र धातु बनने के पहले से ही चले आ रहे है। तब जीव-जन्तुओं की खाल आदि से तांत के बाजे बनाए जाते थे।

एक और भी बाजा है, जिसे 'अलापिनी' कहते है। इसका तार न तो धातु का है, न तांत का। जूट या कपास के तीन धागों से यह बनता है।

होता कि आज जिस दिन हमारा नव-वर्ष होता है, नव-वर्ष हरा
से उसी दिन होता आता है।

प्रकृति की बारी

वर्ष से हम साल का मतलब लगाते हैं। कभी वर्षा के समय वर्ष शुरू हुआ करता था। इसलिए ऋतु का नाम पड़ा वर्षा। हायन कहने से भी वर्ष समझा जाता है—अग्र के मानी पहले। इससे यह लगता है कि किसी समय शायद अगहायन—अगहन—से साल शुरू होता होगा। हायन का माने फसल भी है। वारिश और फसल—लगता है, वर्ष ठीक करने मे इन दोनों का बेशक बड़ा हाथ था।

इन उत्सव-त्योहारों से मनुष्य सबसे ज्यादा क्या चाहता है? वारिश, फसल और धन-दौलत। इनके सिवाय चाहता है लाल-भरी गोद। मनुष्य के जितने यत्न-जादू, पूजा-पाठ हैं—सब इसी के लिए हैं। इसी के लिए इतना सर खपाना है, मन्नत है।

यह कोई बात नही कि सभी देशों मे एक ही समय फसल फले, खाद्य मिले। देश-देश की पंजिका में फर्क इसीलिए पड़ता है। और तो और, अपने ही इतने बडे देश मे भी उत्सव-त्योहार और तिथि-तारीख में एकरूपता नही है।

अपनी नाड़ी को ज़रा दबाकर देखिए, किस तरह ताल पर चलती है। उस दिन चांद को देखा था, मगर आज देखिए, वह कितना दुबला हो गया है। कुछ ही रोज पहले खुले बदन रहने के बावजूद पसीना आता था, लेकिन आज अंगीठी के सामने बैठना पड़ता है। चांद का घटना-बढना, सर्दी और गर्मी किस तरह बारी-बारी से आती है। सूरज का सवेरे उग आना कभी नही भूलता।

होगा कि आज जिस दिन हमारा नव-वर्ष होता है, नव-वर्ष सदा से उसी दिन होता आया है।

प्रकृति की बारी

वर्ष से हम साल का मतलब लगाते है। कभी वर्षा के समय वर्ष शुरू हुआ करता था। इसलिए ऋतु का नाम पड़ा वर्षा। हायन कहने से भी वर्ष समझा जाता है—अग्र के मानी पहले। इससे यह लगता है कि किसी समय शायद अगहायन—अ[illegible] से साल शुरू होता होगा। हायन का माने फसल भी है। [illegible] और फसल—लगता है, वर्ष ठीक करने में इन दोनों का [illegible] बड़ा हाथ था।

इन उत्सव-त्योहारो से मनुष्य सबसे ज्यादा क्या चाहता है [illegible] बारिश, फसल और धन-दौलत। इनके सिवाय चाहता है लाल[illegible] भरी गोद। मनुष्य के जितने यज्ञ-जादू, पूजा-पाठ है—सब इसी के लिए है। इसी के लिए इतना सर खपाना है, मन्नत है।

यह कोई बात नही कि सभी देशो मे एक ही समय फसल फले, खाद्य मिले। देश-देश की पंजिका मे फर्क इसीलिए पड़ता है। और तो और, अपने ही इतने बड़े देश मे भी उत्सव-त्योहार और तिथि-तारीख मे एकरूपता नहीं है।

अपनी नाड़ी को ज़रा दबाकर देखिए, किस तरह ताल पर चलती है। उस दिन चांद को देखा था, मगर आज देखिए, वह कितना दुबला हो गया है। कुछ ही रोज़ पहले खुले बदन रहने के बावजूद पसीना आता था, लेकिन आज अगीठी के सामने बैठना पड़ता है। चांद का घटना-बढना, सर्दी और गर्मी किस तरह बारी-बारी से आती है। सूरज का सवेरे उग आना कभी नही भूलता।

सूरज को बचाने की ऐसी फिक्र क्यो ? क्योकि उससे सोने की फसल होगी, गाय-गोरू से गोशाले सुहाने होगे, सुख से ससार भरा-पूरा होगा और क्या नही होगा !

मौत से जिन्दगी

इस व्रत मे राख, गोबर और कूडा-कतवार को मिलाकर आग मे जलाना पडता है , जलाकर पानी मे बहाया जाता है । इसके गीत भी हैं।

मिट्टी के ढक्कन मे जो-कुछ रखकर इस तरह पानी मे बहाया जाता है, असल मे वह खाद है, जिससे अच्छी फसल पैदा होती है। मौत मे ही दरअसल जिंदगी है। सूरज के नाम पर यह जो व्रत चालू है, सच पूछिए तो यह सारा-का-सारा कर्म फसल का है। तब के लोग समझा करते थे कि बीज बोने के मानी हैं बीज की मौत। बीज का माटी के नीचे दफनाना। उसीसे नए अकुर निकलेगे—मौत से नई ज़िंदगी पैदा होगी। सर्दी मौत है—वसत नई ज़िंदगी।

व्रत मे कुश के पुतले को जलाकर लोग व्याकुल होकर पुकारते हैं—ऐ सूरज, जगमगाते हुए जगो।

सूरज कुहरे मे ढक गया है। इस पुकार को सुनने के बाद भी नही उठ पाते। वे अपनी बेबसी ज़ाहिर करते हैं—मैं कुहरे से बेतरह घिर गया हू । उठ नही पाता।

यह सुनकर लोग कुहरे का सफाया करने में लग पड़ते हैं। कुहरा खत्म करना लोगो के माघमडल व्रत में प्रकट हुआ है। इस व्रत की जो रूपरेखा मिलती है, उससे यह पता चलता है कि अचानक इस व्रत ने रूपक का रूप ले लिया है। कुहरे के बादल को फाड़कर बड़े कष्ट से सूरज को निकाला जाता है। चद्रकला

आप खाए थाली मे,
मुन्ने को दे प्याली में।
प्याली गई टूट।
मुन्ना गया रूठ।

या

चंदा मामा आरे आव,
वारे आव
नदिया किनारे आव
सोने की कटोरी मे
दूध भात लेते आव
मुन्ने को पिलादो धु-उ-उ-द।

मगर व्रतों में मुख्यता सूरज की है।

सूरज बड़ा है

चांद के बदले सूरज को बड़ा देखने की बात याद में आई। आदिम काल के लोगों का खयाल था, चांद की बदौलत ही ये पेड़-पौधे, जीव-जंतु जीते-मरते हैं। वे चांद को एक जादूगर, दिन-तारीख और मास-वर्ष का कर्ता समझते थे।

लेकिन जब खेती करने की नौबत आई, तो धीरे-धीरे लोगों ने समझा, इन सबका कर्ता-धर्ता दरअसल चांद नही, सूरज है। एक के बाद दूसरी ऋतु जो आती है, सूरज की बदौलत आती है। जाड़े के दिनो सूरज की मृत्यु-दशा रहती है। उस समय पेड़-पौधे सूख जाते है, हर कुछ मे अभाव पड़ता है।

मगर मनुष्य मौत को लाचार की नाईं कबूल नही कर लेता। वह सूरज को जिलाने का व्रत करता है। बंगाल की तरफ लोगों में यह व्रत चालू है। इसे 'तुपतुपुली' व्रत कहते हैं। आखिर

विवाह है। नीलपूजा में शिव के विवाह की झांकी है। लगता है, यही आगे चलकर पूजा हो गया है और उनमें सूरज के बदले शिव आ गए हैं। आ ही नहीं गए, घर-घर घूमने लगे। क्रिया-कर्म के बजाय साज-सिंगार करके गीत ही गाने का ज्यादा जोर रहा।

नील के माने हैं नीलकंठ महादेव। नीम या बेल की एक डाल के सिरे की तरफ नुकीला बनाकर उसमें चक्र और त्रिशूल लगाया जाता है। उसके बाद उसमें तेल-सिंदूर पोतकर लाल कपड़े से गुसाईं का सारा बदन लपेट दिया जाता है। उसके बाद उसे लेकर घर-घर घूमते हुए स्वांग बनाकर गीत गाते फिरते हैं। जो ऐसे स्वांग बनते हैं, उनको नील सन्यासी कहते हैं। उनके गले में रुद्राक्ष की माला, माथे पर पगड़ी, पहनावे में लाल कपड़ा और हाथ में बेंत रहता है। दल के सरदार को बाला कहते हैं।

पहले नील का गीत गाया जाता है। गीत में शिव के विवाह का वर्णन होता है। जैसा कि उस समाज में हुआ करता है, वैसे ही ब्याह का वर्णन। उसके बाद एकाएक शुरू हो जाता है श्रीकृष्ण के दशावतार का स्तोत्र-पाठ। इससे यह जाहिर हो जाता है कि आगे चलकर देवता की गद्दी में शिव को उतारने की कोशिश की गई है। इस कोशिश में ब्राह्मण-पंडितों का हाथ रहा है।

शिव के बाद आए कृष्ण। उनके आने पर गीत के साथ शब्दों का भी योग हो गया। दोनों के योग से रूपक की सृष्टि हो गई।

कृष्ण का नाम है कान्हा। दूसरा नाम है विष्णु। साहित्य में विष्णु का अर्थ है सूर्य। लिहाजा जो पहले सूरज थे, वही बाद में कान्हा बने। ग्रह-उपग्रहों के साथ सूरज की जो जीवन-यात्रा

से सूरज का ब्याह होता है। चन्द्रकला कहती है, सूरज महाराज, तुम्हारे देश मे मां किसे कहूंगी ? सूरज ने कहा, मेरी मां म्हारी सास होगी, उन्हींको मां कहना। यानी सूरज को वदस्तूर आदमी वनाया गया है। उसके एक और भी वीवी है गोरी। सूरज के दो लड़के भी हुए—राल और शिव।

शिव का उदय

सूरज को एडी से चोटी तक वांधने के लिए माया की ज़ंजीर से भरपूर जकड दिया गया है। इस व्रत मे सूरज को न केवल सोलहो आने आदमी वना डाला गया है, वल्कि उसमें पुराने समाज के वहुत से रीत-रिवाजो का भी परिचय पाया जाता है।

शिव दरअसल आदिम समाज के ही कोई आदमी थे। वहुत सभव है कि वही दल के सरदार या मुखिया थे। व्रतों के ज़माने मे वे प्रधान जादूगर रहे होगे और व्रत जव नाच और रूपक मे वदल गया, तो उस नाच और रूपक के भी गुरु शिव ही रहे, फिर वही नटराज खेती-वारी के युग मे ऋतुराज वन वैठे। शिव की भूमिका का अभिनय करते-करते धीरे-धीरे दल के सरदार स्वयं शिव वन गए। शुरू मे शिव स्वय भी वहुत परिश्रम करने वाले थे। गाव-घर की औरते इसीलिए काम-काज के समय शिव के गीत गाया करती थी। वगला मे एक कहावत मशहूर है—धान भानते शिवेर गीत। यानी धान कूटते वक्त शिव का गीत। पुराने शिव की जो झाकी लोक-गीतों मे मिलती है, उसमें कही भी भगेडी भोलानाथ की वू-वास नही। वे खूव खटते थे और केवल खेती-वारी ही नही, खेत से मच्छर और जोंक भगाने के नियम, कानून, ग्रह-तत्व और वशीकरण के जादू-मंत्र भी वे जानते थे।

शिव के वाद कृष्ण

'माघमडल' व्रत का ज़िक्र किया जा चुका है। उसमें सूरज का

सामने आए फिर भगेड़ी और आरामतलब हो गए। समाज के दिमागदरो के चलते जादूविद्या से एक ओर तो आई खेती, ज्योतिविद्या, आयुर्वेद और शास्त्र और दूसरी ओर आई गीति-कविता, गीतिरूपक, नाटक। प्रकृति की बाहरी लड़ाई से आया विज्ञान और अदरूनी लड़ाई से आया शिल्प।

इसी युग मे हमारे यहा रामायण और महाभारत जबानी रचे गए थे। ये दोनो ग्रंथ किसी एक व्यक्ति के रचे नही हैं। कई सौ वर्षों मे अनगिनती लोगो की बनाई गीति कविताए जोड़कर, उन्हे सजा-गुजाकर ये दोनों महाकाव्य तैयार हुए। शायद उसके बहुत दिनो के बाद पेशेवर गायक कुशीलवों से सुन-सुनकर वाल्मीकियो ने रामायण और व्यासों ने महाभारत की रचना की। वाल्मीकि और व्यास व्यक्ति-विशेषो के नाम नही है। ये दो सप्रदाय है।

ऐसी गीति-कविताओ मे एक तो मूल गायक हुआ करता था और बाकी लोग दोहारी करते थे। ग्रीक-गाथा होमर के इलियड और ओडेसी मे भी ऐसा ही है। धीरे-धीरे दोहारी देने वाले लोग तो गायब हो गए, मूल-गायक ही रहे। उनके हाथ मे वीणा रही। और आगे चलकर गायक के हाथ की वीणा भी जाती रही, गायक कवि हो गए, गान हो गया कविता।

रामायण, महाभारत, इलियड, ओडेसी—ये सबके सब राजे-महाराजो के युद्ध जीतने की गाथाए हैं। भारत और ग्रीक-राजाओ के दरबार मे गायको का दल रहता था—भारत मे कुशीलव और ग्रीस मे होमेरीदाई। ये जात-गायक थे। ये पुश्त दर-पुश्त राजाओं की कीर्ति-कहानी गाया करते थे। लावनी, आल्हा आदि गानेवालों की तरह मच पर खड़े-खड़े ही गीत रच लिया करते थे। इन रचनाओ के बहुत-बहुत दिन बाद ये

है, वही हुई सौर-यात्रा। सौर-यात्रा बाद में हो गई कृष्ण-यात्रा। सूर्य-देव जिन्हें लेकर रास रचते हैं, वे हैं, राधा, चित्रा और विशाखा। कृष्ण की भी सहचरियां यहां राधा, चित्रा और विशाखा।

मौखिक गीति और महाकाव्य

एक ओर जादू-मंत्र से लोगों में धर्म-विश्वास का उदय हुआ, दूसरी ओर आई व्रतनाट्य से मौखिक गीति और नाटक। प्रकृति के परिवर्तन मे आदिम मनुष्यों ने कभी अचरज से जीवन और मृत्यु आने और जाने के क्रम को देखा। इसीसे पल-पहर, दिन-तिथि, मास-वर्ष एवं ऋतु-चक्र का ज्ञान आया। धीरे-धीरे उन्हें ऋतुओं के राजा सूरज-चांद से बड़े दिखाई दिए।

जब मनुष्य खेती-बारी करने लगे, तो उनमे व्रत-त्योहार का रिवाज आया। उन त्योहारों के पीछे जन्म और मृत्यु के प्रभाव का हाथ रहा। मौखिक गीतियों के गाने के भी खास कुछ नियम-कायदे हैं। बंगाल की बात लीजिए। यहां रामायण के गीति-रूपक के पांच खंड हैं—सीता-विवाह, शक्तिशेल, रावणवध, पिता-पुत्र और लक्ष्मण-वर्णन। जिस घर मे संतान का जन्म हुआ है, वहां या तो सीता-विवाह या पिता-पुत्र खंड गाया जाएगा। जहां किसी उम्रवाले आदमी की मौत हुई हो, वहां गाया जाएगा—रावणवध। और कही अगर नन्हे बच्चे की मृत्यु हुई हो वहां गाया जायगा या तो लक्ष्मण-वर्णन या शक्तिशेल।

गीति-रूपकों के इस युग में समाज में एक बहुत ही बड़ा परिवर्तन नजर आया। खेती से लोग अपनी जरूरत से ज्यादा उपज करने लग गए थे। समाज में शूद्र और ब्राह्मण, दास और मालिक दिखाई देने लगे। दिमाग और मेहनत के काम-काज जुदा माने जाने लगे। शिव पहले तो पत्थर मेन्हिर के रूप में

इस समय सूर्य राजा जरूर थे, मगर प्रधानता चांद ही की थी। चांद रानी गिना जाता था। बोए के मरने के बाद जैसे फसल उगती है, उसी तरह समाज के सुख-चैन के लिए राजा को प्राण देने पड़ते थे। सूरज रोज साझ को मरकर सुबह जी उठता है। राजा भी जान देकर नए प्राण पाते है। इसी विश्वास पर राजा को बलि दी जाती थी कि राजा अमर है। बाद मे राजा के बदले पशु की बलि देने का रिवाज शुरू हुआ। ऐसे समाज को क्षेत्रप्रधान कहा जाता था। पुरुष बीज माने गए, स्त्रियां खेत। राजा रानी के हुक्म के बंदे बने।

तुम आदमी नहीं

रानी की यह हुकूमत ज्यादा दिनों तक राजा पर नहीं रह सकी। धीरे-धीरे राजा कब्जे से बाहर होता गया। खेती जैसे-जैसे बढ़ती गई, फसल आगन की हद से बाहर बेहारों तक फैलने लगी, वैसे ही जैसे खेत से बीज, स्त्री से पुरुष, रानी से राजा, चांद से सूरज की प्रधानता बढ़ने लगी।

इस तरह समाज धीरे-धीरे बदलता गया। जो वीर रात-दिन लड़ाई-झगड़ो मे लगे रहते थे, वे बड़े-बड़े राजा-महाराजा बन बैठे। दूर तक उनका राज्य कायम हुआ, राजवंश बना। वे काफी जमीन-जायदाद के मालिक हो गए। उसके बाद जब देश मे वनिज-व्यापार का सिलसिला बढा, तो वैश्य, वणिक् और महाजनों की शक्ति बढने लगी। लक्ष्मी खेती के बजाय व्यापार मे जा बसी। खेती से रकम बड़ी दौलत गिनी जाने लगी। राज-शक्ति तब भी राजा-महाराजा के हाथों जरूर थी, पर सौदागरों का दबदबा बढने लगा। धीरे-धीरे जब रियासत की ओर भी उनके हाथ बढ़ने लगे तो क्षत्रिय और वैश्य, राजा और महाजनो में लड़ाई शुरू हो गई। ऐसे समय बड़े-बड़े नगर और बंदर-

महाकाव्य लिखे गए। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि लिखते समय मूल रचनाओं के अपने सही रूप में रह सकी हैं। इन्हीं महाकाव्यों को फिर दूसरे-दूसरे लोगों ने तोड़-मरोड़कर अलग-अलग ढंग से लिखा है। उनके अनेक अलग-अलग अंश पर भी रचनाएं हुई हैं।

नाच से व्रत

गीति-रूपक और नाटक की सूचना महाकाव्य से बहुत पहले हो चुकी थी। व्रतों से यह बात साफ समझ में आती है। व्रतों से भी पहले था नाच। नाच और काम पहले साथ-साथ थे। किसी काम में हाथ लगाने के पहले दल के लोग जुटकर उ... काम का रूप बनाते थे। यही जुटान नाच की थी। काम जितना ही सुलझने लगा, काम के पहले नाच की जरूरत उतनी ही घटती गई। मिहनत-मजूरी के चंगुल से निकलकर नाच सामाजिक जरूरतों में आने लगा। उस समय समाज में काम के बंटवारे का क्रम शुरू हुआ था। एक-एक वर्ग एक-एक काम में अपने को माजने लगा था। जादू तब तक एक अलग ही हुनर बन चुका था। और नाच सामूहिक जुटान न रहकर व्रत-त्योहार बन गया था। उसके लिए जादूगर और पुरोहित की जरूरत हो आई थी।

महाकाव्य के पीछे लडाई-भिडाई और रूपक-नाटक के पीछे खेती का विस्तार था। फल-कंद जुटाने, शिकार करने या मवेशी पालने से खेती-बारी का काम कठिन पडता था। आदिम काल में, समाज के पुरुष लोग तो लड़ाई में ही मशगूल रहा करते थे, इसलिए खेती की जिम्मेदारी औरतों के कंधा पर पड़ी थी। इसलिए नए-नए जो व्रत-त्योहार सामने आते, उनमें लक्ष्मी या संतान देने वाली देवी ही प्रमुख हो उठी।

दिक युग के आसपास का एक शब्द पाया जाता है—शैलूप। शैलूप या तो उनको कहते थे जो बलि के काम में जल्लाद का हिस्सा अदा करते थे या जो नाटक करते थे। कहीं-कहीं कोल-भील को भी यही नाम दिया गया है। जहां तक समझा जाता है, तब बलि के स्थान में गीत गाया जाता था। जिसकी बलि दी जाती थी, वह चाहे पशु ही क्यों न हो, उसके लिए जल्लादों में कुछ ममता होती थी। क्योंकि बलि का जीव और जल्लाद, दोनों एक ही मालिक के मातहत होते थे। इसीलिए बलि के बाद उन पशुओं के गुण-गान का रिवाज किसी-किसी मुल्क में देखा जाता है। उनकी स्तुति कुछ इस तरह से की जाती है गोया वे पशु पशु नहीं बल्कि अलौकिक शक्तिवाले मनुष्य हों। इस तरह पशुओं के नाम पर उस जमाने के जंजीर में जकड़े दास लोग अपनी ही संघ-शक्ति की स्तुति किया करते थे।

आज से कोई ढाई हजार साल पहले की बात है। उसी समय बौद्ध-संघारामों में कैदी लोगों की आजाद होने की आकांक्षा जागी थी। साल में खास-खास दिन जो जहां रहते थे, वहीं जमा होते थे। पर्दे लटकाए जाते थे। नाच-गान का उत्सव होता था। यानी रूपक-नाटक होता था।

उलट-फेर

गीति-रूपकों और नाटकों का लोक-प्रचलित रूप नहीं रहा। समाज में जब फिर से उलटफेर का समय आया, तो नाटक नई शक्ल में सामने आए। अब तक समाज की एकमात्र संपत्ति जमीन ही रही थी, अब उद्योग-व्यापार का सहारा लेकर नए लोगों ने सिर उठाया। शहर बने, बंदरगाह कायम हुए। गाती हुई, घूमने वाली भजन-मंडलियां दिखाई दीं—जुलूस का

गाह बन गए। सौदागरों की नावें देश-देशांतर को जाने लगीं। राजा और सौदागरों की इस नाटकीय लड़ाई से ही और नाटक का सूत्रपात हुआ। यह युग बौद्ध-युग था। इस रा ब्राह्मणों को दबाकर वैश्य आगे निकल आए थे। राजा सौदा गरों से पीछे पड़ते जा रहे थे।

इसके काफी सबूत मिलते हैं कि वैदिक-युग के अंतिम दिनों में समाज छोटे-बड़ों में बटता जा रहा था। इस कारण प्रमाण ऐतरेय ब्राह्मण की शुनःशेप की कहानी है। इधर इन्द्र के अपार वैभव और उधर शुनःशेप के पिता बेचारे अजीगर्त को दो मुट्ठी अन्न भी नसीब नहीं। लाचार उसे अपने बेटे को बेचना पड़ा। राजसूय यज्ञ में बलि चढाने के लिए वह लड़का खरीदा गया। लड़के को बांधकर यूपकाष्ठ में भिड़ाया गया। आखिर जल्लाद इनकार कर बैठे। शुनःशेप ने धिक्कारते हुए कहा था—पुर ऋत् हम खो चुके हैं। और नफरत से मुंह पर यह भी कह दिय कि तुम मनुष्य नहीं हो।

शैलूष

'तुम मनुष्य नहीं हो' मारने वालों के खिलाफ मार खाने वालों की यह मानो सबसे पहली बार गर्जना थी। ये जल्लाद भी शुनःशेप की तरह गुलाम ही थे। इसीलिये अपने ही एक भाई-बिरादर को मारने मे उनका हाथ नहीं उठा। इतना ही क्यों, शुनःशेप ने उन्हें बीते दिनों की बात याद दिला दी, जबकि समाज में सब कोई समान थे। जब गुलाम और मालिक, गरीब और अमीर में समाज बट नहीं गया था।

मगर इससे नाटक और रूपक का मेल कहां बैठता है? यही देखें कि वह मेल कहा है।

यम, नियति, यक्ष

आदिम युग से, खासकर खेती-बारी के युग में मनुष्य ने जीवन और मृत्यु को देखा। देखा जाना और आना, अंधेरे और जोत की लड़ाई। मौत और ज़िन्दगी की इस पाली से ही जादू-मन्तर, जाग-यज्ञ, व्रत-पूजा, नाच-गान-नाटक का उदय हुआ। शुरू में देवता नही थे। थे केवल ऋत् और ऋतु। दल बांधकर प्रकृति की नकल करने से ही वह मुट्ठी में आ जाएगी, इसी ख्याल से आचार-अनुष्ठान का जन्म हुआ।

समाज मे जब दल से दलपति बड़ा हो उठा, तभी ऋतु-चक्र के देवता—सूरज, शिव, कृष्ण—सामने आए। देवता उस समय अमर नही थे। उन्हें मनुष्य की तरह, जीवों की तरह मरना पड़ता था। मरने के बाद उनका नया जन्म होता था। जैसे मिट्टी के नीचे बीज भरकर अन्न होता है। तब जन्म और मरण के देवता एक ही थे। यम तब तक जनमे नही थे।

व्रत-त्योहार और ऋतु-उत्सव में देवता की भूमिका ले ली जादूगर, पुरोहित और ऋत्विक् ने। धीरे-धीरे सामूहिक व्रत-उत्सवों से जब गाथा और गीत अलग होने लग गया, तो व्रत-त्योहार के नेता गाथा के रचयिता ही हो उठे। और बाद में वही नट या अभिनेता भी बने। एक ही देवता में जैसे जीवन और मृत्यु का द्वंद्व, एक ही देवता के जैसे दो चरित्र थे, वैसे ही शुरू में एक नट दो चरित्रों का अभिनय करता था। कथकों में, बहुरूपियों मे आज भी उसकी झलक देखने को मिलती है।

उसके बाद समाज मे कामों का जितना ही बंटवारा होता गया उतने ही अलग-अलग देवता बनते गए। बेचारे यम के कंधे पर पड़ा मौत का दफ्तर। जन्म और मृत्यु के बीच का लगाव टूटता चला गया।

रिवाज चला। ग्रीस में ऐसे जो अनुष्ठान होते, उन्हें 'कामे
कहते थे। वहां गणतंत्र से नाटकों को प्रेरणा मिली थी।

भारत में उद्योग और व्यापार की जो बाढ आई, उसी
से नए सिरे से नाटकों का उदय हुआ। नगर नाटकों के के
बने। इसमें दो बातों को जगह मिली। एक तो राज्य
लालसा, साजिश, फरेब, विलास-व्यसन, अच्छी पोशाक की ओ
में बुरी चाल और मामूली लोगों के प्रति उपेक्षा के भाव; दूसर
भले चरित्र और घटना, खोने के बाद बड़ी-बड़ी मुसीबतों
फिर से पाने की कहानी। अश्वघोष और कालिदास के नाट
दूसरी कोटि में आते है। उनमें साधारण लोगों की आशा औ
आवेग की झलक है। गुप्त राजाओं के समय मे जब देश क
लक्ष्मी सचमुच ही वाणिज्य मे जा बसी थी, कला और साहित
सब प्रकार से प्रगति पर था। किन्तु उसी प्रगति में अगति क
भी एक पहलू था। वह यह कि साधारण लोगों को पीछे छोड़
कर बढ़ने की चेष्टा। शायद इसी कारण से बाद में शिल्प-
साहित्य मे अंधकार-युग आया।

किन्तु गाथा, गीति-रूपक गांववालों में टिका रहा। गांव
तब सोलहों आने गाव नहीं रह गए थे। अब श्रम करनेवाले
छोटे गिने जाते थे, दिमागी काम करनेवाले बड़े।

निचले तले के लोगों ने नाच-गान-नाटक की धारा को
कायम रखा। इसीलिए बीते दिनों की कला के परिचय के
लिए उनकी शरण गए बगैर कोई चारा नही। उन्होने हमारे
अतीत को ही बांधकर नही रखा, हमारा भविष्यत भी उन्हीके
यहां बंधा रहा।

अधिकारी और अनधिकारी, मालिक और दास, धनी और गरीब दिखाई दिए।

एक ओर तो जानकारी से प्रकृति को मुट्ठी में लाया गया, लेकिन दूसरी ओर वही जानकारी पुरोहित-ब्राह्मणों के हाथों पड़कर अजाना रहस्य हो गई। प्रकृति का नियम हो गया अदृष्ट, नियति, विधि का विधान। उस पर मनुष्य की कोई दाल ही नहीं गल सकती। मनुष्य पहले की तरह ही अपनी इच्छा के मुताबिक श्रम से प्रकृति से फसल वसूलने लगे, कपड़े बुनने लगे, मगर मन में अन्धविश्वास जमकर बैठ गया।

काम और बात, हाथ और दिमाग, वस्तु और मन अलग हो गए। जो दिमागी काम करते, वे हो गए ऊपर तले के आदमी—देवकुल। जो हाथ से काम करते वे हो गए नीचे तबके के लोग—दैत्यकुल। और समाज में पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, कर्मफल आ पहुंचा।

छोटे-बड़े, राजा और प्रजा में समाज बंट गया। इसके यह मानी नहीं कि दो दल एकबारगी जुदा हो गए। अगर ऐसा होता, तो राजा का दल तो दानों का मुहताज होकर मर जाता। इसलिए मिल-जुलकर रहने और समाज को एक रखने की जरूरत थी। राजा ही भगवान के अवतार, मनुष्यों के भाग्य-विधायक हुए। शुरू में राजा रिआया के काम आते थे। वे प्रजा के महीना पानेवाले सेवक थे। रखवाली करके वे उपज का छठा हिस्सा पाते थे। बाद में रक्षक ही भक्षक बन बैठे। ज्यों-ज्यों लोभ बढ़ता गया, वे जुल्मी होते गए।

नियति भयंकर यम बन गई। देवता निर्दयी हो गए। उनकी मांगों का अन्त नहीं रहा। कहीं उनके चढ़ावे के पान में चूने की त्रुटि रह गई तो खैर नहीं।

नियति

इस तरह सामने आए यम, यमदूत, नियति। इन जड़ मे ऋतु-चक्र और जन्म-मृत्यु का अमोघ नियम ही नियम से ही आए यम और नियति। कार्य और कारण का ही नियम है। आदिम युग के लोगों ने प्रकृति में कार्य-का का जो नियम ढूंढ़ निकाला था, उसीको जादू कहा गया। में यही जादू धर्म बन गया।

प्रकृति मे जैसा है नियम, वैसा ही मनुष्यों में है समाज प्रकृति का नियम जैसे ऋतु है, मनुष्यों का नियम वैसे ही ऋत है। ऋत का मतलब था मनुष्यों का एक सम्पूर्ण समाज, ऐसा समाज जिसका कही भेद-बटवारा न हो। जादू के ज़माने में मनुष्य का खयाल था कि प्रकृति पर उसका बेरोक अधिकार है। ठीक उसी तरह समाज पर भी सबका समान और बेरोक अधिकार था।

लेकिन धीरे-धीरे मनुष्य के बचपने-जैसे जादू-विश्वास पर वास्तव-जगत मे चोट पड़ने लगी। पग-पग पर ठोकरें खा-खा कर मनुष्यों ने भांप लिया—प्रकृति अपने मतलब पर चलती है। वह मनुष्य के हुक्म ढोने वाली नही। सो प्रकृति को प्रसन्न करने की बारी आई—मन्नत मानकर मनाने की बारी आई। और इसीके साथ आए पूजा-अर्चा, देवी-देवता, पंडा-पुरोहित।

उस ज़माने मे जो लोग प्रकृति के नियम-कानून को जान-कर उसे बदलने के फ़न में माहिर थे, वही पुरोहित, ब्राह्मण और सिद्धाचार्य थे। मनुष्य के ज्ञान-विज्ञान का 'क ख' उन्ही की चटशाला में आरम्भ हुआ। प्रकृति पर अधिकार के इस भेद से ही समाज मे अधिकार-भेद आया। वर्णाश्रम और जाति-भेद की नीव पड़ी। इसीसे समाज में व्यक्तिगत मालिकाना आया,

देते। उन रुपयों से वे जरूरत की चीजें खरीदते।

कुछ दिन तो इस तरह चला। बाद में एक नई समस्या सामने आई। अब बिक्री खरीदारी के लिए नहीं होने लगी। बल्कि बेचने के लिए खरीदारी शुरू हो गई। सौदागर कम कीमत पर सौदा खरीदते और महंगे दाम पर बेचते। इससे उनके हाथों मुनाफा बच जाता। उस मुनाफे को भी वे इसी तरह लगाते। उनकी नजर चीजों पर नहीं, रुपयों पर लगी होती। इस तरह रुपयों के लिए दौड़ शुरू हुई। रुपया अब माध्यम नहीं, बल्कि वह सरदार हो गया, सर्वेसर्वा हो गया।

रुपयों का कारोबार करते-करते एक दिन सौदागर ने पाया कि वह सर्वनाश के दरवाजे पर जा पहुंचा है। तब जाकर यह बात उसकी समझ में आई कि अब तक वह रुपयों के पीछे नहीं, सोने के हिरन के पीछे दौड़ता रहा है। वह सोने का हिरन भी नहीं, मायावी मारीच था।

ग्रीक-पुराण में मिडास की कहानी है। मिडास उसी राज्य का राजा था, जहां सोने की बेहतहा खानें थी। एक बार उसने वरदान मांगा था कि मैं जिस चीज को भी छू दूं, वही सोना हो जाए। उसे मांगी मुराद मिल भी गई। जिस चीज़ पर भी उसका हाथ लग जाता, वही सोना हो जाती। जब वह खाने बैठा तो सिर ठोककर रह गया। कौर उठाता कि सोने का ढेला बन जाता। और हुआ ऐसा कि उसके चारों ओर सोने का ढेर लगा रहा और वह दाने-दाने को तड़प कर, प्यास से छटपटाते हुए मर गया।

हम अक्षि का अर्थ आंख बताते हैं। यानी आंख के बदले अक्षि बंटती है। रुपए-पैसे को कहा जाता है अर्थ। इसका मतलब यह हुआ कि रुपए-पैसे का काम किसी और चीज़ की जगह

लेकिन इसका उलटा फल भी फला। नीचे तबके
इस जुल्म-सितम को होंठ सीकर नहीं सहते रहे। उन्होंने म
पर कभी तो सीधे चोट की और कभी लुक-छिपकर। रा
के लिए दो दलों में छीना-झपटी चलती रही।

नियति वही थे, जो समाज में सबसे ऊंचे थे। सामा
घटनाओं की बागडोर उन्हींके हाथों थी। इसीलिए नाटक
शुरू में रहकर नियति ही नाटक की गति को बांध देत
लेकिन वर्ग-युद्ध के चलते समाज के अगुओं के लिए सदा सम
का सूत्रधार रह सकना मुमकिन नहीं हुआ। नियति को खिस
जाना पड़ा। जीवन के रंगमंच पर अभिनय करने वालों ने उस
नियमों को तोड़ दिया। इसीलिए घटना को मोड़ने के लि
स्वयं नियति को भी नट बनकर रंगमंच पर उतरना पड़ा।
मगर ज्यों-ज्यों घटनाएं उसके हाथ से बाहर निकलती गईं,
वह जी-जान से हाथ-पैर पटकती रही। हाथों में खड्ग लिए
वह जितना ही उछल-कूद मचाती, लोग उसे भांड़ समझकर हंस
पड़ते। नियति मजाक की पात्री बन बैठी और उसके बदलने का
सवाल आया।

यक्ष की बारी

अब नियति बनकर आया यक्ष। अजीब सूरत—भुकभुकाती
आंखें। हर समय खांव-खांव। वह सोने-चांदी की चादर से
अपनी असली शक्ल ढके रहता।

यक्ष का सर्वस्व हुआ रुपया-पैसा। शुरू में वह मनुष्य के
अच्छा काम आया। खरीद-बिक्री के बीच-बचाव में पड़कर
उसने मनुष्य के कंधे के बोझ को बहुत हलका कर दिया था।
खेतिहर बतख-मुर्गा बेचने पैठ जाते। खरीदार बदले में रुपए

कानून और कचहरी भी रुपए की मुट्ठी में। कहावत है, जर जिसका, जीत उसी की। पैसे के नाम से कठपुतली भी हा करती है।

और कठपुतली ही क्यो, बडे लोगों के घर देवता भी वन्दी बनते हैं। इसीसे गरीब कहा करते है,

कौडी और कृष्ण दो भैया।
कौडी के बस कुंवर कन्हैया॥

अब तक प्रजा के माथे पर थे जमीन के मालिक राजा। उसे रिआया अपनी आंखो देखा करती थी, उसके प्यादों से पिटती थे और उपज होने पर लगान चुकाया करती थी। समाज के जो स्याह-सफेद करने वाले थे, वे प्रत्यक्ष थे। उसे समझने-बूझने की गुंजाइश थी, उसके पास तक पैगाम पहुंचाया जा सकता था।

मगर धीरे-धीरे मनुष्य के भाग्य का बनाने विगाडने वाला हो गया रुपया और बाजार। उसके दवाव से मनुष्य से मनुष्य का जो असली सम्बन्ध था, वह दब गया। रुपए-पैसे के चक्कर में पड़कर किसी अदेखे सूत में मनुष्य का भाग्य बंध गया।

नियति और आदमी

मनुष्य का जीवन, धन, मान, सब कुछ एक अंधी नियति के चपेटे मे आ गया। मानो एक ऐसे अभिशाप के बीच इस युग का सवेरा निकल रहा हो, जिसकी क्षमा नहीं हो।

चन्द्रधर बनिए ने सारी की देवी मनसा को कानी कहा था। उसके पैरों सर झुकाने को वह हर्गिज राजी नहीं हुआ। नतीजा यह निकला कि देवी के क्रोध से उसके छः-छः बेटे जाते रहे, सात-सात व्यापारी जहाज पानी में बैठ गए। फिर भी चन्द्रधर

बैठना है, महज वाहन बनना है। रुपए की पैदाइश हुई है इसलिए है। लेकिन आखीर में वह ठीक अर्थ होकर नहीं रह गया। उसका मतलब ऐसा हो गया कि मैं (रुपया) ही सब कुछ हूं—सिर्फ मुझे ही देखो। अब तक रुपए-पैसे ही चीजों के वाहन रहे थे, फिर चीजें ही रुपयों की वाहन बन गईं। रुपए-पैसे सबके सर चढ़ गए।

उलटी छाप

आईने में चेहरे की उलटी छाप पड़ती है, दायां बा... जाता है। रुपए-पैसे का आईना भी ठीक उसी तरह सब को उलटा देखने लगा। होने यह लगा—

मूरख फटकारे पंडित को पैसा पास रहे तो।
और झूठ-सा लगे सत्य ही अगर कहे निर्धन तो।

लोगों ने पूछा—यह धरती है किसके वश में। प्रतिध्वनि ... उत्तर मिला, जिसके पास रुपया है।

जिसे रुपया है, उसी के पास बल है। काम की कदर घट गई। रुपए से हर कुछ पाना आसान हो गया। हर कुछ कानी-कौड़ी का खरीदा गुलाम हो गया। रुपए की हर जगह पहुंच। वही अपना और मित्र—सब कुछ—

टका करै कुलहूल टका मिरदंग बजावै,
टका चढ़ै सुखपाल टका सिर छत्र धरावै।
टका माय और बाप टका भैयन को भैया,
टका सास अरु ससुर टका सिर लाड़ लड़ैया।
अब एक टके बिनु टकटकी रहत लगाए रात-दिन।
बैताल कहै विक्रम सुनो, धिक जीवन इक टके बिन।

...बने से मना करना वाला क्या ?

...अच्छा ! खैर, न सही। आपने अभी जो सुनाया, उन्हीमे ...कुछ दोहरा दीजिए, मैं खुद लिख लूं।

—अरे भाई, वहां जो कहा, वह अब साफ याद है ! उस ...उस भाव के आवेश में कह गया।

...लिखा-पढ़ी से कोई नाता नहीं। भीड़-भाड़ हुई, जोश आया, ...व उसके और वह कह गया। वह कविता लिखता नहीं, ...गाता है।

...मगर ऐसे स्वभाव के कवि अब मिटते जा रहे हैं। गांव के ...गों की गांठ खाली है। गांव के धनी-मानी जब-तब ऐसा ...योजन करते थे। वैसे लोगों की पूछ हो जाती थी। अब गांव ...वैसे लोग भी शहरों में जा बसे। शहरों में नाटक-सिनेमा की ...र। फिर ऐसों को पूछे कौन ? अब वे या तो गांवों में खेत-...मजूरे हो रहे हैं या शहरों में कुली। छापाखाना, रेडियो, ...सिनेमा, ग्रामोफोन के आगे उनकी कीमत भी क्या !

कविता लिखना

अब सामने आए हैं कवि। वे कविता कहते नहीं, कविता ...लिखते हैं। घर में घुसकर एकान्त में लिखा करते हैं। उन ...कविताओं की किताबें छपती हैं, छपकर किताबें बाजार में ...आती हैं। बाजार से वह किताब पाठकों के पास पहुंचती है। ...पाठक अब लोगों में बैठकर कविता नहीं सुना करते। घर में, ...एकान्त में, अकेले बैठकर मन-ही-मन पढ़ा करते हैं। आज की ...कविता का रूप यही है।

अटल रहा अपनी आन पर।

कुल का आखिरी चिराग लक्ष्मीन्दर भी बुझ गया। उसकी स्त्री बिहुला पति की लाश को केले के पेड़ों का बेड़ा बनाकर नदी की धार मे लेकर बह चली। उसके प्रताप से उसका पति जिन्दा हुआ—चन्द्रधर के और बेटे भी जी गए, दौलत भी लौट आई।

मगर नियति का लोहा मानना पड़ा। मनसा की पूजा करनी पड़ी। लेकिन चन्द्रधर ने मुह फेरकर बाएं हाथ से उनक पूजा की। हारे हुए की अवज्ञा हार में भी जीतने वाले के प्रति सिर उठाए रही। मनसा को पूजा जरूर मिली। लेकिन उस पूजा मे श्रद्धा नही रही। चन्द्रधर ने उस तरह मुह जो फेर लिया, उसमे निरुपाय आदमी का नियति के प्रति क्रोध जागता रहा। जागता रहा इसलिए कि कभी भभक पड़ने का सुयोग मिल जाए।

उलटा पुराण

आकाश छूती हुई एक इमारत खड़ी है और उसीके पास की परती जमीन के एक हिस्से में भैंस है, मनुष्य है। ट्राम और बस झटझट निकल जाती है—उसीसे सटी टकराती हुई जाती है बैलगाड़ी, ठेले। वह रहा अस्पताल और उसी के आगे कपड़े पर जड़ी-बूटी फैलाए बैठा है हकीम। तब और अब के युग की ानो होड़ लगी है। दोनो आमने-सामने।

गांव के उत्सव मे लावनी का जमघट है। खासे लावनी-ज बुलाए गए हैं। दल है। चंग पर फर्राटे के साथ चटकदार वनियां कहता चला गया। लोग झूमते रहे।

कविता कहना

चीज मान लीजिए जंची। किसी ने जाकर कहा, भई, कुछ

गा है। मगर किस चक्कर में कवियों की आज यह गत हुई है ?

ऊपर जिस यक्ष का ज़िक्र किया गया है, यह दुर्गत उसीके चलते है। रवीन्द्र ने एक जगह यक्षपुरी के बारे में लिखा है—यक्षपुरी में ग्रहण लगा है। सोने के गढ़े के राहु ने उसे नोच खाया है। वह खुद पूरी नही है, न किसी को साबित रहने देना चाहती है।

यक्षपुरी के लोग कह उठे हैं—यक्षपुर मे आंकड़ों की कतार लगी है, मगर किसी अर्थ पर नही पहुचती। इसीलिए हम उनके आगे आदमी नही है, केवल सख्या हैं।

लेकिन इसी यक्षपुरी की चकाचौध मे एक दिन यहा तक के लोगों को लुभाया था। तब वर्तमान सभ्यता का नया सूर्य आसमान मे जगमगा उठा था। वन-जगल काट कर, नदी-पहाड़ तड़पकर लोहे की पटरियो से राह तैयार हो रही थी। बात-बात मे रेल से यहां के लोग वहां पहुच जाते—यहा की चीजें वहां जा पहुचती। गाव के लोग अचरज से बाहर खड़े देखने लगे—अब तक जिस क्षितिज मे उन्होने आकाश और धरती का अन्त माना था, असल मे अन्त वहा नही है। उसके आगे भी धरती है, दुनिया है। इकन्नी-दुअन्नी की फौज-पल्टन लेकर सोने की मुहरें, चादी के रुपए दिग्विजय को निकल पड़े हैं। उसकी फूंक से बड़े-बड़े बरगद-पीपल धराशयी हो जाते हैं। उसके हाथ से छूते ही प्रकृति की शक्ल बदल जाती है।

पैसों की प्रभुता यहा पहले भी प्रकट हो चुकी थी, गुनियों के गले खरीदे गए थे, दिमाग और हुनर किराए पर उठे थे—पर यह नई सभ्यता हमारे यहां अंग्रेजों के साथ आई। इसकी पहली छटा से बहुतेरे लोग मुग्ध हुए और शमा पर परवाने-जैसे टूटे। जब बहुत नजदीक से उसे देखा-भाला, तो समझ मे

कवि अकेला हो गया है। अकेला हो गया है पाठक भी। लिखना भी भाव के आवेग से नही होता—सोच-विचारकर लिखने के लिए कविता लिखी जाती है। फिर कविता लिखना आज कुछ आसान भी नहीं। लिखने के लिए काफी तालीम की जरूरत है। जो चाहे वही कविता नहीं लिख सकता।

पहले के ग्रामीण स्वभाव कवि उसी भाषा में कविता कहते थे, जिसे सब लोग बोला करते थे। लिहाजा सब कोई उसे समझता था। उसमें पढ़े और अपढ़ में कोई फर्क नहीं पड़ता। कवि और दस-जैसा ही एक आदमी था। जो खेती करते, लुहार की भाथी धोंकते, आरा से लकड़ी चीरते, उन्हींके साथ कवि का उठना-बैठना था, उन्हींकी किस्मत से उसकी भी किस्मत जुड़ी थी। उसका गीत अकेले उसीका नही था—वह अपने गीत में दस की बात को गूंथ देता था। मानो उसके मुंह से सारा गांव बोलता था।

मगर अब के कवि। इनकी दशा बड़ी दयनीय है। बोल-चाल की भाषा को झाड़-पोंछकर मांजना पड़ता है। तब कहीं वह पोथी की भाषा बन पाती है। चाहने पर भी बोल-चाल की भाषा में लिखा नहीं जाता। सभी कविता के पाठक नहीं होते। लिखना महज उन्हीं लोगों के लिए है, जो पढ़ सकते हैं। फिर आज जो कविता लिखते हैं, वे खेतों में निड़ानी नहीं करते, कारखाने में काम नहीं करते—बहुत हुआ तो दिमाग लड़ाकर गुजारा करते हैं। शारीरिक श्रम से दिमागी कसरत का, काम से कविता का, कवि से पाठक का आमना-सामना नहीं ही होता है।

इसके पीछे

आज गांव के और शहर के, दोनों ही कवियों के एक-से

सबसे बड़ी बात भारतेंदु में यह रही कि उन्होंने मानवी परिश्रम और पराक्रम की मर्यादा बढ़ाई है, अन्याय और अत्याचार के खिलाफ लड़ने की प्रेरणा जगाई है।

नई रीति

भारतेंदु की कविता के इकतारे से पहले-पहल देशात्मबोध की स्वर-लहरी ही नहीं गूंजी, बल्कि विषय, भाषा और नई रीति का भी श्रीगणेश हुआ। अब तक कविता राज-दरबारों की तड़क-भड़क में पलती रही, वैभव-विलास और बड़े-बड़ों के गुण-गान ही उसके आधार रहे। यहां आकर उसमें मनुष्यता का दुःख-दर्द, साधारण लोगों के सुख-दुख, व्यथा-वेदना का भी आभास मिलने लगा। भाषा में ब्रजभाषा का दोग्दोरा था—उस पगडंडी पर कविता ने खड़ी बोली के राजमार्ग पर कदम बढ़ाए। देवत्व के आसमान की ओर सदा उठी रहने वाली आंखें माटी की धरती और मनुष्य के आंसू-पसीने की दुनिया की ओर झुक आईं। कविता को एक नई राह, एक नई चाह मिली।

युग-सन्धि

कविता के आदर्श की दोमुहानी पर आकर खड़े हुए बाबू मैथिलीशरण गुप्त। उन्होंने एक निगाह में भारत के पिछले इतिहास को देखा और दूसरी से उसके वर्तमान को और अतीत के गौरव की याद दिलाते हुए वर्तमान के प्रत्यक्ष सत्य को और लोगों को उद्बुद्ध किया। 'हरिगीतिका' में लिखी उनकी 'भारत-भारती' जनता की जबान पर चढ़ गई। उन्होंने मानो लोगों को खड़े होकर अपने भूत-वर्तमान पर गम्भीरता से विचार करने को ललकारा। और 'भगवान भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती', की उनकी कामना पूरी हुई। उनके लिए पुराण के बजाय प्रकृति और मनुष्य ही मुखर हो उठे। देवता और ईश्वर को हो

माया, उसमें सत्यानाश की भाग है। उस सभ्यता के वाहकों का जो प्यार है, वह सर्वग्रासी है।

भारतेंदु

और इसीलिए तरुण कवि की मार्मिक वाणी फूट पड़ी—

आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई
अहा, भारत दुर्दशा न देखी जाई।

गोरों के साथ जो यन्त्र-सभ्यता आई उसके लोह-पाश में भारत का जातीय-जीवन जिस बुरी तरह बंध गया, समाज में रूढि और कुरीतियों का जैसा बोल-बाला हो गया—इन सबकी ओर कवि की आंखें गईं। उसने अन्तर की आंखों से सोने के पिंजड़े में तड़पने वाले पंछी-जैसा भारत की अन्तरात्मा को छटपटाते देखा और अपनी रचनाओं के पैने कुठार से चारों तरफ से प्रहार शुरू किए। अंग्रेजों की गुलामी की जंजीरों से जिन थोड़ी आत्माओं में ऊब और असन्तोष की चिनगारी छिटकी थी, उसे उन्होंने उकसा और लहकाकर व्यापक ज्वाल बनाने की साधना की। देश और समाज की इस गई-बीती हालत को उन्होंने लोगों की आंखों में उंगली गड़ाकर बताया। अपने नाटक, अपनी कविताओं, अपने निबन्ध और अपने व्याख्यानों में उन्होंने समाज-सुधार और देशात्म-बोध की भावना जगाई। लेकिन देशात्म-बोध के नाते उन्होंने देश की सारी किवाड़-खिड़कियों को बन्द कर महज अपने-ही-आपमें सिमट जाने की संकीर्णता को नहीं सराहा। उन्होंने ब्राह्मण आदि के पाखंड पर काफी छींटा-कशी की। एक जगह कहा—

रोकि विलायत गमन कूप मंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो॥
बहु देवी देवतान भूत-प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सों सब विमुख किए हिन्दुन घबराई॥

सबसे बड़ी बात भारतेंदु में यह रही कि उन्होंने मानवी परिश्रम और पराक्रम की मर्यादा बढ़ाई है, अन्याय और अत्याचार के खिलाफ लड़ने की प्रेरणा जगाई है।

नई रीति

भारतेंदु की कविता के इकतारे से पहले-पहल देशात्मबोध की स्वर-लहरी ही नहीं गूंजी, बल्कि विषय, भाषा और नई रीति का भी श्रीगणेश हुआ। अब तक कविता राज-दरबारों की तड़क-भड़क में पलती रही, वैभव-विलास और बड़े-बड़ों के गुण-गान ही उसके आधार रहे। यहां आकर उसमें मनुष्यता का दुःख-दर्द, साधारण लोगों के सुख-दुख, व्यथा-वेदना का भी आभास मिलने लगा। भाषा में ब्रजभाषा का दौरदौरा था—उस पगडंडी पर कविता ने खड़ी बोली के राजमार्ग पर कदम बढ़ाए। देव[illegible] आसमान की ओर सदा उठी रहने वाली आंखें माटी [illegible] मनुष्य के आंसू-पसीने की दुनिया की ओर झुक [illegible] एक नई राह, एक नई चाह मिली।

आकर खड़े हुए बाबू [illegible] से भारत के पिछले [illegible] उनके वर्तमान को और अतीत [illegible] मान के प्रत्यक्ष सत्य की ओर [illegible] तिका' में लिखी उनकी 'भारत- [illegible] ड गई। उन्होंने मानो लोगों को [illegible] पर गम्भीरता से विचार करने [illegible] रतवर्ष में गूंजे हमारी भारती, [illegible] उनके लिए पुराण के बजाय [illegible] उठे। देवता और दैत्य को ही